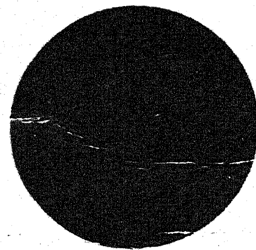
हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

भाग- ६५ अंक -४
अक्टूबर-दिसम्बर, २००४



जन्मशती एवं पुण्य स्मरण
विशेषांक

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, आचार्य चन्द्रबली पांडे
श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान एवं श्री नरेश मेहता

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

अनुक्रम

पुण्य– स्मरण

श्री नरेश मेहता

पुस्तक -समीक्षा

सम्पादकीय

हिन्दी की साहित्य परम्परा को ऊँचाई, गहराई और व्यापकता देने में जिन विशिष्ट साहित्यिक विभूतियों का योगदान रहा है उनमें आचार्य चन्द्रबली पाण्डे, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान प्रमुख हैं। इन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में चिरस्मरणीय योगदान दिया है। जन्म शताब्दी प्रसंग में इन तीनों कृतिकारों पर विशेष सामग्री प्रस्तुत हैं। साथ ही श्री नरेश मेहता आधुनिक हिन्दी साहित्य के वरिष्ठ रचनाकार के रूप में याद किए जाएंगे। उनसे संबंधित विशेष सामग्री विशेषांक में प्रकाशित करते हुए प्रसन्नता हो रही है।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल रचित विशाल वाङ्मय की तालिका में है, वेद, उपनिषद, पुराण, महाभारत, काव्य, साहित्य, इतिहास और व्याकरण की विवेचना तथा साथ ही है, पुरातत्त्व एवं कला मीमांसा पर अंग्रेजी और हिन्दी के ग्रंथ। उन्होंने सुप्रसिद्ध दार्शनिक डॉ. भगवानदास को १-१२-५९ के पत्र में लिखा था—'मेरी अभिलाषा है कि जीवित रहते ब्राह्मी स्थिति का कुछ रस चख सकूँ। मैं अपने मन को उत्तरोत्तर वानप्रस्थ आश्रम की स्थिति में डालना चाहता हूँ। मुझे जीवन में भरद्वाज के समान तीन ऊँची चोटियाँ दीख रही हैं। पहली चोटी है अपने कला, पुरातत्त्व, इतिहास आदि विषयों का कुछ परिष्कार कर जाऊँ। दूसरी चोटी है वेद-उपनिषद आदि भारतीय अध्यात्म-वाङ्मय की बुद्धिपरक व्याख्या कर सकूँ। तीसरी चोटी है कि ब्रह्मतत्त्व या देवतत्त्व या विश्व के समक्ष अध्यात्म रहस्य का कोई स्वरूप प्रत्यक्ष देख सकूँ। इन पर्वतों का जितना आरोहण यथाशक्ति बन पड़े वही मेरा लाभ होगा।.....अपने आदर्श श्री आनन्दकुमार स्वामी के समान मैं भी 'अकिंचन्य' में श्रद्धा रखता हूँ। पर हृदय में जो चिदंश है उसकी स्वच्छता का सच्चा प्रयत्न, यह कर्तव्य तो पूरी शक्ति के साथ पालन करना है।'

वासुदेवशरण जी ने श्री आनन्दकुमार स्वामी का आदर्श अपने समक्ष रखते हुए भारतीय कला के मर्मों का जिस रीति से उद्घाटन किया है; उससे भारतीय कला प्रेमियों को न केवल परितोष प्राप्त हुआ है; वरन् उनके हृदय में भारतीय कला संपदा के मूल अभिप्रायों को परखने और समझने के प्रति समर्पित होने का भाव उत्पन्न हुआ है।

जहाँ राष्ट्रीय जागृति के महाभियान में वन्देमातरम् महामंत्र बना था, उसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द और स्वामी दयानन्द सदृश संतों, राष्ट्रीय आंदोलन के अग्रणी नेताओं

सहित अनेक क्रांतिकारियों के बलिदानों से उसे ऊर्जा और शक्ति मिली थी; उसी प्रकार रवीन्द्रनाथ टैगोर और अनेक तत्त्वज्ञों ने भारतीय सांस्कृतिक बोध के समुज्ज्वल पक्ष को उद्घाटित करने का कार्य किया था। जो कार्य दर्शन के क्षेत्र में सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन ने किया था वैसा ही कार्य आनन्दकुमार स्वामी और वासुदेवशरण अग्रवाल ने किया था। कला और अध्यात्म के ग्रंथों के साथ उनके पृथ्वी सूक्त, मातृभूमि, पृथ्वी-पुत्र, माता भूमि, जैसे ग्रंथों ने भारत-भक्ति और राष्ट्रभक्ति के भावों से प्रबुद्ध चेता समाज को चैतन्य किया था। अपने गुरु की भांति वे भारत की मौलिक एकता के संधानकर्त्ता थे। मार्कण्डेय पुराण, मत्स्य पुराण, वामन पुराण के अध्ययन, पाणिनीकालीन भारतवर्ष और कादम्बरी का सांस्कृतिक अध्ययन के प्रस्तोता वासुदेवशरण जी ने अवधी के सूफी महाकाव्य पद्मावत की संजीवनी व्याख्या लिखकर हिन्दी प्रेमाख्यानक के मर्म से अध्येताओं को सुपरिचित कराया है।

भारतीय पुरातत्व संपदा के संरक्षण, संग्रहण, सूचीकरण और प्रदर्शन के कार्य के साथ ही वासुदेवशरण अग्रवाल के कृतित्व के साक्षी हैं मथुरा संग्रहालय, लखनऊ संग्रहालय और कुछ अंशों में राष्ट्रीय संग्रहालय। ऐसे प्राच्य विद्याविद् के महत्तर कार्य उनके शताब्दी वर्ष में हमें उन्हें याद करने के लिए प्रेरित करते हैं।

हिन्दी भाषा के प्रबल पक्षधर और सूफी काव्य के मर्मज्ञ आचार्य चन्द्रबली पाण्डे का विपुल साहित्य उनके अन्वेषण और साधना का परिणाम है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आचार्य रामचन्द्रशुक्ल के सम्पर्क से पाण्डे जी को व्यापक अध्ययन दृष्टि प्राप्त हुई और वहीं मौलवी महेशप्रसाद के सम्पर्क के माध्यम से उन्होंने फारसी, उर्दू और अरबी का प्रचुर ज्ञान अर्जित किया था।

नागरी प्रचारिणी सभा के सभापति के रूप में पाण्डे जी ने 'हिन्दी' पत्रिका का सम्पादन करके राष्ट्रभाषा के संबंध में विशिष्ट सामग्री और प्रबल तर्क प्रस्तुत करने का महनीय कार्य किया था। आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के हैदराबाद अधिवेशन के सभापति बनाए गए थे। यह सौभाग्य उनके द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति किए गए खोजपूर्ण कार्यों के कारण उन्हें प्राप्त हुआ था।

जहाँ उन्होंने उर्दू-हिंदी भाषा के संबंध में व्यापक अध्ययन करके प्रचुर सामग्री प्रकाशित की थी वहीं कालिदास, केशवदास, तसव्वुफ अथवा सूफ़ीमत, तुलसी की जीवनभूमि, तुलसीदास, हिन्दी कवि-चर्चा, हिन्दी गद्य का निर्माण, अनुराग बाँसुरी आदि ग्रन्थों का लेखन-संपादन करके पाण्डे जी ने हिन्दी को समृद्धि के पथ पर अग्रसर किया था। सूफी काव्य 'अनुराग बाँसुरी' के सम्पादक आचार्य चन्द्रबली पाण्डे ने मूल स्रोतों के सहारे सूफी काव्य के महत्व को प्रतिपादित किया था।

सम्पादकीय

हिन्दी की साहित्य परम्परा को ऊँचाई, गहराई और व्यापकता देने में जिन विशिष्ट साहित्यिक विभूतियों का योगदान रहा है उनमें आचार्य चन्द्रबली पाण्डे, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान प्रमुख हैं। इन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में चिरस्मरणीय योगदान दिया है। जन्म शताब्दी प्रसंग में इन तीनों कृतिकारों पर विशेष सामग्री प्रस्तुत है। साथ ही श्री नरेश मेहता आधुनिक हिन्दी साहित्य के वरिष्ठ रचनाकार के रूप में याद किए जाएंगे। उनसे संबंधित विशेष सामग्री विशेषांक में प्रकाशित करते हुए प्रसन्नता हो रही है।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल रचित विशाल वाङ्मय की तालिका में है, वेद, उपनिषद, पुराण, महाभारत, काव्य, साहित्य, इतिहास और व्याकरण की विवेचना तथा साथ ही है, पुरातत्त्व एवं कला मीमांसा पर अंग्रेजी और हिन्दी के ग्रंथ। उन्होंने सुप्रसिद्ध दार्शनिक डॉ. भगवानदास को १-१२-५९ के पत्र में लिखा था—'मेरी अभिलाषा है कि जीवित रहते ब्राह्मी स्थिति का कुछ रस चख सकूँ। मैं अपने मन को उत्तरोत्तर वानप्रस्थ आश्रम की स्थिति में डालना चाहता हूँ। मुझे जीवन में भरद्वाज के समान तीन ऊँची चोटियाँ दीख रही हैं। पहली चोटी है अपने कला, पुरातत्त्व, इतिहास आदि विषयों का कुछ परिष्कार कर जाऊँ। दूसरी चोटी है वेद-उपनिषद आदि भारतीय अध्यात्म-वाङ्मय की बुद्धिपरक व्याख्या कर सकूँ। तीसरी चोटी है कि ब्रह्मतत्त्व या देवतत्त्व या विश्व के समक्ष अध्यात्म रहस्य का कोई स्वरूप प्रत्यक्ष देख सकूँ। इन पर्वतों का जितना आरोहण यथाशक्ति बन पड़े वही मेरा लाभ होगा।.....अपने आदर्श श्री आनन्दकुमार स्वामी के समान मैं भी 'अकिंचन्य' में श्रद्धा रखता हूँ। पर हृदय में जो चिदंश है उसकी स्वच्छता का सच्चा प्रयत्न, यह कर्तव्य तो पूरी शक्ति के साथ पालन करना है।'

वासुदेवशरण जी ने श्री आनन्दकुमार स्वामी का आदर्श अपने समक्ष रखते हुए भारतीय कला के मर्मों का जिस रीति से उद्घाटन किया है; उससे भारतीय कला प्रेमियों को न केवल परितोष प्राप्त हुआ है; वरन् उनके हृदय में भारतीय कला संपदा के मूल अभिप्रायों को परखने और समझने के प्रति समर्पित होने का भाव उत्पन्न हुआ है।

जहाँ राष्ट्रीय जागृति के महाभियान में वन्देमातरम् महामंत्र बना था, उसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द और स्वामी दयानन्द सदृश संतों, राष्ट्रीय आंदोलन के अग्रणी नेताओं

सहित अनेक क्रांतिकारियों के बलिदानों से उसे ऊर्जा और शक्ति मिली थी; उसी प्रकार रवीन्द्रनाथ टैगोर और अनेक तत्त्वज्ञों ने भारतीय सांस्कृतिक बोध के समुज्ज्वल पक्ष को उद्‌घाटित करने का कार्य किया था। जो कार्य दर्शन के क्षेत्र में सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन ने किया था वैसा ही कार्य आनन्दकुमार स्वामी और वासुदेवशरण अग्रवाल ने किया था। कला और अध्यात्म के ग्रंथों के साथ उनके पृथ्वी सूक्त, मातृभूमि, पृथ्वी-पुत्र, माता भूमि, जैसे ग्रंथों ने भारत-भक्ति और राष्ट्रभक्ति के भावों से प्रबुद्ध चेता समाज को चैतन्य किया था। अपने गुरु की भांति वे भारत की मौलिक एकता के संधानकर्त्ता थे। मार्कण्डेय पुराण, मत्स्य पुराण, वामन पुराण के अध्ययन, पाणिनीकालीन भारतवर्ष और कादम्बरी का सांस्कृतिक अध्ययन के प्रस्तोता वासुदेवशरण जी ने अवधी के सूफी महाकाव्य पद्‌मावत की संजीवनी व्याख्या लिखकर हिन्दी प्रेमाख्यानक के मर्म से अध्येताओं को सुपरिचित कराया है।

भारतीय पुरातत्व संपदा के संरक्षण, संग्रहण, सूचीकरण और प्रदर्शन के कार्य के साथ ही वासुदेवशरण अग्रवाल के कृतित्व के साक्षी हैं मथुरा संग्रहालय, लखनऊ संग्रहालय और कुछ अंशों में राष्ट्रीय संग्रहालय। ऐसे प्राच्य विद्याविद् के महत्तर कार्य उनके शताब्दी वर्ष में हमें उन्हें याद करने के लिए प्रेरित करते हैं।

हिन्दी भाषा के प्रबल पक्षधर और सूफी काव्य के मर्मज्ञ आचार्य चन्द्रबली पाण्डे का विपुल साहित्य उनके अन्वेषण और साधना का परिणाम है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आचार्य रामचन्द्रशुक्ल के सम्पर्क से पाण्डे जी को व्यापक अध्ययन दृष्टि प्राप्त हुई और वहीं मौलवी महेशप्रसाद के सम्पर्क के माध्यम से उन्होंने फारसी, उर्दू और अरबी का प्रचुर ज्ञान अर्जित किया था।

नागरी प्रचारिणी सभा के सभापति के रूप में पाण्डे जी ने 'हिन्दी' पत्रिका का सम्पादन करके राष्ट्रभाषा के संबंध में विशिष्ट सामग्री और प्रबल तर्क प्रस्तुत करने का महनीय कार्य किया था। आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के हैदराबाद अधिवेशन के सभापति बनाए गए थे। यह सौभाग्य उनके द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति किए गए खोजपूर्ण कार्यों के कारण उन्हें प्राप्त हुआ था।

जहाँ उन्होंने उर्दू-हिंदी भाषा के संबंध में व्यापक अध्ययन करके प्रचुर साम्ग्री प्रकाशित की थी वहीं कालिदास, केशवदास, तसव्वुफ अथवा सूफ़ीमत, तुलसी की जीवनभूमि, तुलसीदास, हिन्दी कवि-चर्चा, हिन्दी गद्य का निर्माण, अनुराग बाँसुरी आदि ग्रन्थों का लेखन-संपादन करके पाण्डे जी ने हिन्दी को समृद्धि के पथ पर अग्रसर किया था। सूफी काव्य 'अनुराग बाँसुरी' के सम्पादक आचार्य चन्द्रबली पाण्डे ने मूल स्रोतों के सहारे सूफी काव्य के महत्व को प्रतिपादित किया था।

पाण्डे जी हिन्दी को लोकवाणी या लोकभाषा मानते थे। अतएव सामान्य जन की भाषा हिन्दी के प्रति वे विशेष आग्रही थे। उन्होंने हिन्दी भाषा और लोक जीवन के परस्पर संबंधों पर गहन विचार किया था। उनका मानना था कि एक समय "अंग्रेजों ने अपनी साज़िश से उर्दू को हिन्दुस्तानी या मुल्की ज़बान के नाम से आगे बढ़ाया और हिन्दी को दफ़ना दिया।'

आचार्य चन्द्रबली पाण्डे ने राष्ट्रभाषा हिन्दी आन्दोलन की वैचारिक पीठिका निर्माण करने में जो योगदान किया था उसका ज्वलन्त प्रमाण उनके द्वारा लिखित अनेक लघु पुस्तिकाएँ हैं; जिनके माध्यम से सुबुद्ध समाज हिन्दी का पक्षधर बना था।

तपस्वी की भाँति वे सादगीपूर्ण जीवन जिए थे और उनके पाण्डित्य की छाप उनकी प्रखर लेखनी और कृतियों में स्पष्टत: भासित होती है। जन्मशती के प्रसंग में उनके अवदान का पुण्य स्मरण भाषा साहित्य के संस्थानों का परम कर्त्तव्य है।

श्रीमती महादेवी वर्मा, श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान की अन्तरंगिनी थीं एवं इलाहाबाद के क्रास्थवेट गर्ल्स कालेज में दोनों ने साथ-साथ अध्ययन किया था। महादेवी जी ने 'अतीत के चित्र' में 'बहिन सुभद्रा' शीर्षक लेख लिखा था जिसमें हिन्दी के लोकप्रिय कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान के व्यक्तित्व की झलक मिलती है। सुभद्रा जी के व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए महादेवी जी लिखती हैं—

'मझोली कद तथा उस समय की कृश देहयष्टि में ऐसा कुछ उग्र या रौद्र नहीं था; जिसकी हम वीर गीतों की कवयित्री में कल्पना करते हैं। कुछ गोलमुख, चौड़ा माथा, सरल भृकुटियाँ, बड़ी और भावस्नात आँखें, छोटी सुडौल नासिका, हंसी को जमाकर गढ़े हुए से ओंठ और दृढ़तासूचक ठुड्डी सबकुछ मिलाकर एक अत्यन्त निश्छल कोमल उदार व्यक्तित्व वाली भारतीय नारी का ही पता देते थे। पर उस व्यक्तित्व के भीतर जो बिजली का छन्द था, उसका पता तो तब मिलता था; जब उनके और उनके निश्चित लक्ष्य के बीच में कोई बाधा आ उपस्थित होती थी। 'मैंने हँसना सीखा है मैं नहीं जानती रोना' कहने वाली हँसी निश्चय ही असाधारण थी।' महादेवी ने लिखा है—'सुभद्रा जी में जो महिमामयी माँ थी उसकी वीरता का उत्स भी वात्सल्य ही कहा जा सकता है। न उनका जीवन किसी क्षणिक उत्तेजना से संचालित हुआ न उनकी ओज भरी कविता वीररस की घिसी पिटी लीक पर चली।

जीवन के प्रति ममता भरा विश्वास ही उनके काव्य का प्राण है—

'सुख भरे सुनहले बादल रहते हैं मुझको घेरे
विश्वास, प्रेम, साहस है, जीवन के साथी मेरे।'

सुभद्रा जी की कहानियों पर महादेवी जी की टिप्पणी है—'उनकी कहानियाँ प्रमाणित करती हैं कि उन्होंने जीवन और समाज की अनेक समस्याओं पर विचार किया और कभी अपने निष्कर्ष के साथ और कभी दूसरों के निष्कर्ष के लिए उन्हें बड़े चमत्कारिक ढंग से उपस्थित किया।''

भाषा, भाव, शब्द की दृष्टि से सजे 'झाँसी की रानी' जैसे वीर गीत तथा सरल स्पष्टता से मधुर प्रगीत मुक्त यथार्थवारिनी कहानियाँ आदि उनकी मौलिक प्रतिभा के ही सृजन हैं।

सुभद्रा जी की 'झाँसी की रानी' कविता स्वतंत्रता आन्दोलन को वेगवान बनाने में सक्षम थी। उनकी कविता से भारतीय नारी के पराक्रम का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय उजागर हुआ था। स्वतंत्रता संग्राम में उनके सक्रिय भाग लेने के कारण कारागार की यंत्रणा को सहज मुस्कान के साथ झेलने वाली महान कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान की जन्मशती भारतीय नारी जागरण का सिंहनाद पुन: करे यही अभीष्ट है।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी का सौभाग्य था कि उसने नेशनल बुक ट्रस्ट के सहयोग से देश के विभिन्न अंचलों के श्रीनरेश मेहता साहित्य के अध्येताओं को आमंत्रित किया था। उक्त समारोह में जिस स्तर के आलेख पढ़े गये थे; उन्हें प्रकाशित करना अपरिहार्य लगा। फलत: इस विशेषांक में उस आयोजन की सामग्री जिज्ञासु अध्येताओं के लिए प्रस्तुत है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में शीर्ष रचनाकारों में श्रीनरेश मेहता का विशेष महत्व इसलिए है कि उन्होंने जिज्ञासु सर्जक के रूप में भारतीय परम्परा के साथ-साथ विश्व स्तर पर चल रहे विचार-प्रवाहों को आत्मसात् करके एक विशेष जीवन-दृष्टि विकसित की थी।

नरेश जी साहित्य को मनुष्य के व्यापक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते थे। श्रीमती महिमा मेहता की पुस्तक 'उत्सव पुरुष श्रीनरेश मेहता' का यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है—''वे ध्रुवान्तों में जीने वाले व्यक्ति रहे हैं। एक तरफ वे क्रांतिचेता रहे तो दूसरी ओर वैष्णव सन्तों की संवेदना में जीते हुए अपना योग-क्षेम धर्म निभाते रहे। वे घनघोर प्रेम पत्री मानसिकता में भी जी सकते थे तो वे वैराग्य की अतियों तक भी पहुँच सकते थे।''

श्रीनरेश मेहता जी ने जहाँ देशज प्रत्ययों का प्रयोग करके एक नयी भाषिक संरचना के माध्यम से अपनी पहचान बनाई, वही पराआकाश, लीलागान, भागवत कथा, कीर्तन, मंत्र, यज्ञ आदि आर्ष शब्दावली के माध्यम से उन्होंने एक नया काव्य-बोध दिया था। उदार, उज्ज्वल और मानवीय वैष्णव दृष्टि सम्पन्नता श्रीनरेशजी को अतिविशिष्ट बनाती है।

श्रीनरेश मेहता जी ने परम्परा और प्रकृति से तादात्म्य रखते हुए भी आधुनिक बोध से अपने को सदैव सम्पृक्त और सम्पन्न रखा था। यद्यपि एक आलोचक की मान्यता है कि श्री नरेश मेहता के कवि व्यक्तित्व ने आर्षता और वैष्णवता को एक ही व्यक्तित्व में,

कविता के समरस कृतित्व में साकार कर दिया है। इस अर्थ में वे भारतीय वैदिक परम्परा के ऋषित्व और वैष्णवत्व रसाकुलता के मार्दव को परस्पर ओतप्रोत कर सके।'

कवि, कथाकार और आलोचक से पृथक् उनका पत्रकारिता का व्यक्तित्व भी अपने ढंग का था। उनके सम्बन्ध में विशिष्ट सामग्री प्रकाशित करके एकेडेमी परिवार उनके प्रति प्रणति निवेदित करती है; जिनकी सन्निधि में एकेडेमी अनेक गंभीर चर्चाओं का केन्द्र रही है। श्रीनरेश जी के स्मरण में उनकी ही ये पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

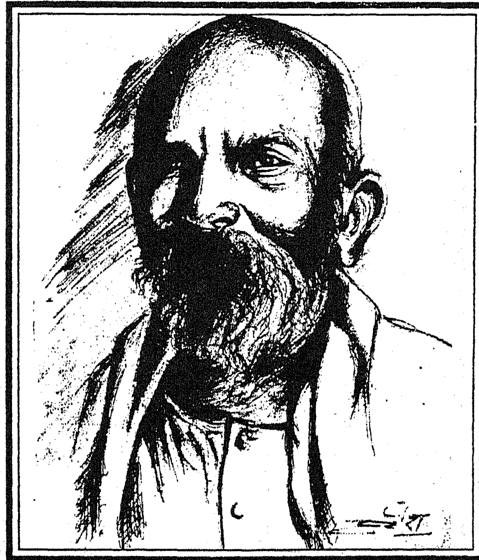
मनुष्य होने का अर्थ ही है
एक उत्सव
एक रास का आरात्रिक सम्पन्न होना।
मनुष्य का रास-पुरुष ही
देश और काल में यात्रा कर रहा है।



● हरिमोहन मालवीय



डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल



आचार्य चन्द्रबली पांडे



श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान



श्री नरेश मेहता

❑ जन्मशती प्रसंग
डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल

ज्ञान के एकनिष्ठ साधक

• डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के स्वर्गवास से भारतीय विद्याओं के अध्ययन और शोधकार्य की अपार क्षति हुई है। वह महान् साधक थे। पुरातत्त्व, इतिहास, पुराण-साहित्य, वैदिक साहित्य, लोकभाषा का साहित्य, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, आधुनिक भारतीय भाषाओं का साहित्य आदि अनेक विषयों में वह केवल रुचि ही नहीं रखते थे, उनको सदा नवीन शोधों से अग्रसर करते रहते थे। अध्ययन और मनन उनके श्वास-प्रश्वास थे। जिस विषय पर भी बात कीजिए, आप अवश्य उनसे कुछ नया प्रकाश पा सकते थे। उनकी स्मरण-शक्ति विलक्षण थी। शब्दों के इतिहास के वह धनी थे। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से उन्होंने सहस्त्रों अर्थप्रसू शब्दों का संग्रह किया था। शब्दों से उनका अपूर्व अनुराग था। लोकभाषा के नए शब्दों को पाकर उन्हें जैसे निधि मिल जाती थी। केवल वह जानते ही नहीं थे, जानी बात को बड़े सुचारु ढंग से प्रकट कर सकते थे। एक क्षण भी उनका व्यर्थ नहीं जाता था। वह निरन्तर ज्ञान की साधना में लगे रहते थे। गुणग्राही तो वह प्रथम श्रेणी के थे। जहाँ कहीं उन्होनें किसी में गुण देखा उसे ही सराहा, प्रोत्साहन दिया और सब प्रकार की सहायता की। वह अंग्रेजी और हिन्दी में समान रूप से लिख और बोल सकते थे। परन्तु हिन्दी में लिखना उन्हें केवल रुचिकर ही नहीं लगता था, इसे वह अपना कर्त्तव्य मानते थे। सही बात तो यह थी कि वह पूर्ण रूप से ज्ञानमय हो गए थे। ज्ञान की साधना में उन्होंने किसी अन्य बात की परवा नहीं की और अन्त में उन्होंने अपना स्वास्थ्य और शरीर भी इसी साधना के लिए समाप्त कर दिया। ज्ञान का ऐसा एकनिष्ठ साधक इस युग में दुर्लभ है। यह कह सकना कठिन है कि उनके स्वर्गवास से कितनी क्षति हुई। विद्या का एक अनन्य साधक ही नहीं उठ गया, एक आलोक-स्तम्भ ही ढह गया।

सूखे शास्त्रीय प्रसंगों में मानवीय संवेदना का रस

वासुदेव जी महान् विद्याव्रती तो थे ही, मनुष्य के रूप में भी वह उतने ही महान् थे। उनमें अदभुत संकल्प-शक्ति थी। उनकी जीवनचर्या महान् आदर्शों और विश्वासों पर आधारित थी। किसी के कष्ट की बात सुनकर वह व्याकुल हो उठते थे। सेवा के अवसर से कभी चूकते नहीं थे। मैं उन्हें छात्रावस्था से ही जानता हूँ। उन्हें कभी छोटी बातों में उलझते नहीं देखा। किसी की निन्दा शिकायत वह नहीं करते थे। वह बहुत ही अच्छे मित्र

थे। परन्तु अपने अत्यन्त घनिष्ठ मित्रों से भी उनका हृदय भरा रहता था। सूखे शास्त्रीय प्रसंगों में भी यह संवेदना प्रकट हो जाया करती थी। जिस विषय पर वह जिस समय काम करते थे उस समय तन्मय हो जाते थे। वह एक बार 'हर्षचरित' पर काम कर रहे थे। प्रातः भ्रमण के समय वही चर्चा, सायंकाल गंगास्नान करते समय भी उसी की छानबीन, रात को मिल गए तो उसी की धुन और कहीं किसी सभा में गए तो उसी का ऊहापोह। जिन दिनों 'पद्मावत' की टीका लिख रहे थे, उस समय उसी की चर्चा। वेदों में जब जुट पड़े, तो वेदमय हो गए। ऐसी निष्ठा और लगन के साथ वह जुट जाते थे कि ईर्ष्या होती थी। कहाँ से आती है ऐसी लगन? निस्संदेह बहुत गहराई से।

वह विलक्षण मेधावी थे। वर्षों पहले पढ़ी हुई बात उन्हें इस प्रकार स्मरण हो आती थी जैसे अभी पढ़कर उठे हों। उनके साथ मैं घंटों बैठा हूँ, बिल्कुल पता नहीं लगता था कि कब समय बीत गया। एक-पर-एक जानकारियों का ताँता बँध जाता था। किसी विषय पर बात करने पर ऐसा ही लगता था कि यही उनका अपना विषय है उनका बड़ा भारी गुण यह था कि वह श्रोता भी उतने ही बड़े थे। किसी नए विषय की बात वह बड़े ध्यान से सुनते थे और अपनी विलक्षण स्मरण-शक्ति के द्वारा उसे अपने मानसकोष में भर लेते थे।

उन्हें काम करने का ढंग भी मालूम था सारी चीजे बड़े यत्न और सावधानी से वह सुरक्षित रखते थे। आलस्य तो था ही नहीं। कोई नई बात सुनते ही उसका महत्वपूर्ण अंश टाँक लेते थे। आवश्यकता पड़ने पर उसे खोजने में कुछ भी बिलम्ब नहीं लगता था।

हृदय उनका कोमल था, मन पवित्र। चरित्र की ऐसी दृढ़ता थी कि किसी प्रकार की अनुचित बात उनसे सहन नहीं होती थी। सच्चाई के प्रति उनकी अपार निष्ठा थी।

ऐसे महान् सहृदय विद्वान् का स्वर्गवास बड़ा ही कष्टप्रद होता है। परन्तु यदि वह विद्वान अपना अन्तरंग मित्र भी हो, तो उस कष्ट का केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है! वासुदेव जी के असामयिक स्वर्गवास से उनके मित्रों की दुनिया ही अंधकारमय हो गई है। उनके समान प्रतिभाशाली सहृदय विद्वान कभी-कभी ही पृथ्वी पर उतरते है। वह चले गए। शोच्य हम हैं।



(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से आभार पूर्वक)

इतिहासवेत्ता और कला–समीक्षक

● डॉ. भगवत शरण उपाध्याय

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल का देहावसान भारतीय इतिहास और कला के क्षेत्र में क्षतिपूर्ण घटना है। यह क्षति मात्र हिन्दी की ही नहीं, सारे भारत की है। इस देश में कम लोग ऐसे हैं, या हुए हैं, जिनका साहित्य, संस्कृति, कला, पुरातत्त्व और इतिहास के विषयों पर समान रूप से अधिकार रहा है। वासुदेव जी ऐसे ही विद्वान थे, जिनकी हानि उठा सकना सम्बन्धित अध्ययनक्षेत्र के लिए कठिन है।

मूलतः भारतीय दृष्टिकोण

मेरा उनसे सम्बन्ध घना और पुराना था— प्रायः चालीस वर्ष पुराना। तभी से उसका आरम्भ हुआ, जब सन् २५-२७ में हम दोनों हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ते थे— वह बी.ए. में थे, मैं आई.ए. में था। हम दोनों की समान रुचि थी। समान ही प्रयत्न भी थे— साहित्य, संस्कृति और इतिहास की दिशा में। दोनों साथ-साथ घंटो बैठते, इतिहास-सम्बन्धी दुष्टियाँ भिन्न-भिन्न थीं दोनों में प्रभूत अन्तर था। वह कालान्तर में परस्पर विरोधिनी भी हो गई। वासुदेव जी का दृष्टिकोण मूलतः भारतीय था। इसी दृष्टि से प्रभावित उन्होंने डॉ.राजेन्द्र प्रसाद के योग से संचालित भारतीय राष्ट्रीय इतिहास के खण्डों में गुप्तयुगीन खण्ड का औरों के साथ सम्पादन भी किया और उसका कला-सम्बन्धी अंश भी बड़े मनोयोग से लिखा। फिर भी वह राष्ट्रीय दृष्टिकोण श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के दृष्टिकोण से, कम से कम अपनी प्रक्रिया में, सर्वथा भिन्न थॉ। उसने सीमित और अति-राष्ट्रीयता (शाविनिज्म) की गन्ध तक न थी। वह राष्ट्रीय प्रवृत्ति— जिसमें कुतुब-मीनार, ताज आदि हिन्दू बताए जा रहे हैं —उन्हें कतई मान्य न थी।

इतिहास और पुराण

इतिहास-दर्शन का चिन्तन भारतीय दृष्टि से करते रहने के कारण उन्हें पुराणों को मथना पड़ा था। उससे प्रेरित हो उन्होंने मुझसे एक बार पूछा था— "आखिर पुराणों की ही भाँति इतिहास दृष्टान्तमूलक क्यों न हो?" मैंने इसका केवल इतना उत्तर दिया था कि 'तब शायद वह इतिहास न होकर पुराण होगा और प्राचीनों ने इतिहास-पुराण दोनों का एकत्र और प्रायः संयुक्त उपयोग करके भी दोनों की संज्ञाएँ भिन्न-भिन्न रखी हैं, सो उसमें व्यवधान हो जाएगा।' पर उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया, कहा कि 'सारा इतिहास दूर अतीत का अंश बनकर पुराण ही हो जाता है।'

इस दृष्टि में निश्चय एक सच्चाई है। इतिहास जब कालातीत हो जाता है, उसका क्रम जब बिगड़ जाता है, या उसमें तिथिक्रम होता ही नहीं, या घटनाओं का तिथि ब सम्बन्ध नहीं रह जाता, तब वह इतिहास तो नहीं रहता, पर पुराण फिर भी वह य बना रहता है। क्योंकि घटना का काल विशेष से सम्बद्ध रहना और कालक्रम से होना ही इतिहास होता है और इसी विचार से वह पुराण से भिन्न अपनी स्थिति ायम रख पाता है, वरना निःसंदेह समूचा इतिहास पुराना होने से पुराण तो है ही।

वासुदेव जी का कहना था कि दृष्टान्तपरक इतिहास में— जहाँ इतिहास सामाजिक का लाभ कर प्रयत्न होता है— तिथि का दैत्य प्रविष्ट होकर अनर्थ करता है और बोध का ज्ञान दूरी के कारण दृष्टिगत न होने से व्यर्थ हो जाता है। जैसे अगर मान्धाता षय में कोई कहे कि चार अरब, तेरह करोड़, सत्ताइस लाख, अट्ठावन हजार पाँच ीन साल हुए जब वह राजा हुआ था। तब संख्यापरक वाक्य में निहित बोध को कोई ाम नहीं कर पाएगा और न इस बोध को धारण कर लेने पर ही उसका कोई विशेष होगा, अतिरिक्त इस उपलब्धि के कि अत्यन्त प्राचीन काल में मान्धाता नाम का एक था, जितना कहने से ही दृष्टान्तमूलक इतिहास का उद्देश्य सफल हो जाएगा। उसी से 'इतिहास-दर्शन' शीर्षक से उन्होंने 'माधुरी' में (शायद) एक लम्बा और विशिष्ट सन् ३० के आसपास लिखा था। (पत्रिका का नाम और लेख छपने के साल का ख याद से ही कर रहा हूँ। उनमें कुछ भेद हो सकता है।) पर उनकी यह दृष्टि कतर इतिहास-दर्शन के चिन्तन तक ही सीमित थी और इससे उन्होंने सभी तिथिपरक न में, इतिहास के तिथि-तथ्य में, कोई अन्तर नहीं पड़ने दिया।

उदाहरण के लिए, आर्यों के भारत में आगमन और उसकी तिथि अथवा कालिदास मय के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों में उनकी तिथियों को प्राचीनतर करने का जो ह है, वह उनमें नहीं था। उस कमजोरी से वह सर्वथा वंचित थे। आर्य बाहर से आए । नहीं, इस सम्बन्ध में उन्होने जहाँ तक मुझे ज्ञात है कोई सम्मति तो व्यक्त नहीं की, जिन अविनाशचन्द्र दास की सर्वथा अवैज्ञानिक तर्क -शृंखला को जो कुछ तथाकथित स्कृत विद्वानों ने फिर से उद्वेधित करने का प्रयत्न किया है, वह किसी अंश में भी उन्हें न हो सकी।

वैज्ञानिक पद्धति का आश्रय

हाँ, ऋग्वेद के सत्य के विषय में निश्चय उनकी धारणा इससे भिन्न थी। उसके -सत्य को काल देशातीत सत्य मानने और उसका वैसा ही अर्थ करते समय वह उस को दोनों से स्वतन्त्र मानते थे। यह सही है कि वेद -मंत्रों के उनके भाष्य को अनेक ों ने वैयक्तिक और ''आर्बिट्रेरी'' (निरंकुश) माना, पर उन मंत्रों के ऋषियों अथवा ं उल्लिखित राजाओं के समय के अनुमान में उन्होंने कभी 'आर्बिट्रेरी' पद्धति को ाय नहीं दिया, सर्वथा वैज्ञानिक पद्धति से ही उनके कालक्रम को निरखा । मंत्रों के -भाष्य-सम्बन्धी दृष्टि को छोड़ उनके प्रस्तुत रूप में ऋषि-प्रणयन का समय भी उन्होंने

तिलक द्वारा सप्तर्षियों की गति से निर्धारित तिथि के उस पार ही स्वीकार किया।

ऐतिहासिक तथ्यों को मान्यता

इसी प्रकार महाकवि कालिदास की तिथि ५७ ई. पू. में अकारण रखने की जो प्रवृत्ति कुछ भारतीय विद्वानों में है, डॉ. अग्रवाल इस मोह से भी वंचित रहे। उन्होंने कालिदास को सतर्क पाँचवीं सदी में गुप्त सम्राटों का समकालीन माना। सो, इतिहास के प्रणयन में तिथिबोध को उन्होंने कभी अवैज्ञानिक तथा कथित राष्ट्रीय मोह द्वारा दूषित नहीं होने दिया। अपने वृहद ग्रन्थ 'इण्डिया एज नोन टू पाणिनि' में भी (जिसका अनुवाद स्वयं उन्होंने 'पाणिनिकालीन भारत' नाम से किया है) उस महावैयाकरण का समय उन्होंने वही माना, जो वैज्ञानिक था और वैज्ञानिक विद्वानों को सम्मत था।

दृष्टिकोण संस्कृति प्रधान

इतिहास पर उनकी कोई स्वतन्त्र पुस्तक तो प्रकाशित नहीं हुई पर उनके प्राय: सभी सांस्कृतिक ग्रन्थ इतिहास प्रधान हैं। वस्तुत: उनका दृष्टिकोण ही सर्वथा संस्कृति प्रधान है, जिससे उनके इतिहास, साहित्य, कला सभी पर विरचित ग्रन्थ सांस्कृतिक चिन्तनप्रधान हो गए हैं। उनका इतिहासपरक महान् ग्रंथ-मैग्नम ओपस- 'पाणिनिकालीन भारत' है, जिसमें पाँचवी सदी ई.पू. से पहले और पीछे का भारतीय जीवन, हिन्दूकुश और सप्तसिन्धु पर्यन्त (युसुफजइयों का सिन्धुनदवर्ती) भरपूर खुल पड़ा है। यह सन्दर्भ ग्रंथ है, जिसका महत्व असाधारण है और जिसकी अधिकृत प्रामाणिकता अपने क्षेत्र में स्वयं प्रमाण बन गई है। अपने इस सांस्कृतिक सन्दर्भ को डॉ. अग्रवाल ने अपने वैयक्तिक बोध से अपने 'मेघदूत' आदि ग्रंथों में सम्बलित किया। मार्कण्डेय पुराण का अध्ययन उस दिशा में विशिष्ट प्रमाण है। इसी दृष्टि से वह अन्य पुराणों की भी व्याख्या करना चाहते थे, पर मृत्यु को यह मान्य न हो सका और उन्हें उसने अकालकवलित कर लिया।

एक सांस्कृतिक अध्ययन : कादम्बरी

उनकी 'माता भूमि' का सन्दर्भ भी इसी प्रकार सांस्कृतिक था— वैसे वह कादम्बरी आदि की भाँति का अध्ययन न होकर उनके लेखों का संग्रह था। वह निस्सन्देह मुझे पसन्द नहीं आया था। मैंने उसकी प्रतिकूल आलोचना भी की थी, पर इस कारण अनेक राष्ट्रीय सामग्री प्रस्तुत करनेवाला वह ग्रंथ अमान्य भी नहीं हो सकता। इस दिशा में सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से उनका वृहद ग्रन्थ 'कादम्बरी: एक सांस्कृतिक अध्ययन' बड़े महत्त्व का है। पूर्व मध्ययुग का समूचा उत्तर भारतीय सामाजिक जीवन उसमें जाग उठा है। कादम्बरी का अध्ययन साहित्य का नहीं, संस्कृति और कला का अध्ययन है। कला के क्षेत्र में प्रतीकों और व्याख्य-मंत्रों का डॉ. अग्रवाल ने उस ग्रन्थ में जो आलोचन किया है, उसका इस देश का विद्वत्समाज सदा ऋणी रहेगा। कला के क्षेत्र में वह विशिष्ट देन है। उसमें मृण्मूर्तियों(मिट्टी की मूर्तियों) के सन्दर्भ में उन्होंने जो खोज की है, वह सर्वथा मौलिक है।

मृण्मूर्तियों का अध्ययन

डॉ. अग्रवाल मृण्मूर्तियों के क्षेत्र में माने हुए पंडित थे। उनका अध्ययन उन्होंने अपने पुरातात्विक प्रयत्न में शायद 'पाणिनिकालीन भारत' को छोड़कर सबसे पहले प्रारम्भ किया था। जब वह मथुरा-संग्रहालय के अध्यक्ष थे, तभी उन्होंने अपना 'मथुरा टेराकोटाज' लिखा और मथुरा तथा लखनऊ-संग्रहालय के विचारोत्पादक 'हैण्डबुक' भी बाद में शीघ्र ही प्रस्तुत किए। रामनगर की खुदाइयों से प्राप्त मृण्मूर्तियों पर तो उनका पुरातत्व-विभाग द्वारा प्रकाशित खण्ड है ही। उधर भारतीय कला पर जो इसका अध्ययन प्रकाशित हुआ है, वह भी कुछ कम महत्व का नहीं है। इस दिशा में विशेष कार्य डॉ. अग्रवाल ने दिल्ली के ''म्यूजियम ऑफ एशियन एन्टिक्विटीज'' का क्यूरेटर रहकर किया था। मूर्ति कला और मृण्मूर्तियों पर तब उनके अनेक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए, जिनमें अध्ययन की उस वन्य भूमि में उन्होंने अपनी सामर्थ्य और सूझ से नई-नई राहें खोज निकालीं। अपने इस अध्ययन के दौरान उन्होंने कला के क्षेत्र में परिपोषित लाक्षणिक शब्दों का जो उपयोग किया, वह खोज और सर्जन दोनों का परिणाम था। उससे इस देश की भारती भरी-पुरी। उसके लिए न केवल हिन्दी, बल्कि इस देश की अन्य भी कितनी ही भाषायें समृद्ध होंगी।

प्राचीन भारतीय कला का अध्ययन

यू०पी० हिस्टारिकल सोसाइटी' की पत्रिका का बड़े मनोयोग से सम्पादन करते समय भी डॉ. अग्रवाल ने कला-सम्बन्धी अपनी संयोजित प्रक्रिया का बहुशः प्रकाशन किया। उस संस्था से प्रकाशित पत्रिका का विक्रम-सम्बन्धी विशेषांक उनके अध्ययन के अनेक पहलुओं को संयुक्त करता है। प्राचीन कला सम्बन्धी उनके लेखों की संख्या काफी बड़ी है, जिनका प्रकाशन अनेक खण्डों में होना चाहिए। उससे भारतीय प्राचीन कला के क्षेत्र में निश्चत ही एक आलोकस्तम्भ खड़ा हो जाएगा।

अध्ययन-क्षेत्र में विशिष्ट योग

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का अध्ययन संस्कृति और कला के सम्बन्ध में तो विपुल है ही, अध्यापन का क्षेत्र भी उनके योग से विशेष समृद्ध हुआ। विशिष्ट गवेषक होने के ऊपर वस्तुतः मूर्द्धन्य रूप में वह अध्यापक थे। आज के अकारण 'आचार्य' उपाधि धारण करने वाले तथाकथित आचार्य तो उनका शिष्य होने तक की भी योग्यता नहीं रखते। भाष्यकार के रूप में जब उनके चिन्तित बोध का स्रोत फूट चलता था, तब उसका प्रवाह अनवच्छिन्न हो जाता था।

अपनी इसी अध्ययन-रूचि के कारण ही डॉ० अग्रवाल ने हिन्दू-विश्व-विद्यालय के भारती-विद्यालय (कालेज ऑफ इण्डालोजी) में 'कला और वास्तु-विभाग' का अध्यक्ष-पद स्वीकार किया। वस्तुतः उनका वह अध्यापन-काल कला-समीक्षा के उनके जीवन-अध्याय का ही एक प्रसार था। शुद्ध इतिहास से तो उनका सीधा सम्बन्ध वैसे कम रहा

था, पर अब वह विशेष निष्ठा से संस्कृति की पृष्ठभूमि में कला के अध्ययन की सेवा करने लगे पुराणों और विशेषकर कादम्बरी का अध्ययन उसी काल में सम्पन्न हुआ। इस काल का उनके जीवन में दो दृष्टियों से विशेष महत्व है। एक तो कला-सम्बन्धी शब्दावली निर्मित करने और कला के सांगोपांग चिन्तन से, दूसरे वैदिक प्रकरणो की व्याख्या से। वैदिक प्रकरणों की व्याख्या वैयत्तिक होने से सायण आदि की परम्परा से जो विच्छिन्न हो गई, तो वह अनेक वैज्ञानिक विद्वानों को मान्य न हो सकी। विशेषतः इस कारण कि वह अधिकतर स्वरचित, स्वचालित, स्वगर्भित होने से अन्तःप्रेरित 'डॉग्मा' बन गई। पर कला के क्षेत्र में डॉ. अग्रवाल का इस अवधि का अध्यवसाय न केवल प्रामाणिक सिद्ध हुआ, बल्कि वह उस दिशा के प्रयत्नों में असामान्य महत्व का है, जिसका प्रसार कला-समीक्षा के हित में मेरी राय में प्रचुर अनुकूल होगा। काशी -रामनगर के प्रयत्नों से पुराणों की पाठशुद्धि और प्रकाशन की योजना में भी डॉ. अग्रवाल का हाथ था।

आशातीत कार्य किया

बासठ-तिरसठ वर्ष की आयु कुछ विशेष नहीं हुआ करती। फिर इतिहास, संस्कृति और कला के अध्ययन में (भारत के सन्दर्भ में) प्रायः पाँच हजार साल के दौरान तो निश्चय ही यह नगण्य है। इस अल्प अवधि में इतना काम कर लेना, जितना डॉ. अग्रवाल ने किया है, वस्तुतः आशातीत है। यह वही कर सकता था, जो असाधारण विद्याव्यसनी हो। डॉ० अग्रवाल केवल विद्यावसनी ही नहीं थे, बल्कि उस दिशा में वह अवधूत योगी थे। वह उस स्थिति के प्रज्ञाधारी थे, जिसमें 'शिथिल समाधि का दोष' असह्य होता है।

इतिहास के प्रति निष्ठा डॉ. अग्रवाल को डॉ. राधमुकुद मुकर्जी से मिली थी, जिनके 'हिन्दू सिविलिजेशन' का उन्होने 'हिन्दू सभ्यता' नाम से (राजकमल प्रकाशन के लिए) अनुवाद भी किया था। उनकी 'फण्डामेन्टल यूनिटी' का अनुवाद भी डॉ. अग्रवाल के द्वारा ही सम्पन्न हुआ था। डॉ. मुकर्जी हम दोनों के गुरू थे।



(साप्ताहिक हिन्दुस्तान से साभार)

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल : माँ सरस्वती के तापस पुत्र

• डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त

सम्भवत: १९४० के आसपास की बात है, उस समय मुझे पहली बार डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल से मिलने का सुयोग मिला था। वह तब तक डॉक्टर न हुए थे, पर कला और पुरातत्त्व के क्षेत्र में उनका नाम आदर के साथ लिया जाने लगा था।

उन दिनों मैं अग्रवाल जाति का इतिहास विशुद्ध पुरातात्त्विक और ऐतिहासिक आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा था। मै अग्रवाल जाति के विकास के सम्बन्ध में प्रचलित किंवदन्तियों की ऐतिहासिक व्याख्या ढूँढ़ रहा था। उस समय तक आर्यसमाज के प्रभाव और गाँधी जी के नेतृत्व में जगी राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप जातियों के सामाजिक महत्व के प्रति लोग उदासीन होने लगे थे। अत: तत्कालीन इतिहासज्ञों में से कोई मेरी किसी प्रकार की सहायता कर सकेगा, ऐसी आशा मैं कम ही कर सकता था। फिर भी किसी दिशा-निर्देशक की टोह बनी हुई थी। तभी आजमगढ़ जैसे छोटे और पिछड़े नगर में पुरातत्त्व-सम्बन्धी जिज्ञासा-शान्ति के लिए जो कुछ सुलभ था, उसके माध्यम से वासुदेवशरण जी का नाम सामने आया। उनके नाम और काम का परिचय मिला। सोचा वह स्वयं अग्रवाल हैं, कदाचित् वह मुझे इस दिशा में दिशा में निर्देश कर सकें।

अत: एक दिन जब किसी प्रसंग से लखनऊ जाने का अवसर पाया, तब आजमगढ़ के खडहरों में बिखरे हुए अतीत-चिन्हों में से जो दो-चार मूर्तिखण्ड और सिक्के एकत्र किए थे, उन्हें झोले में रखकर संग्रहालय जा पहुँचा। वे ही उनसे मिलने में सहायक थे। सहमते-सकुचाते अपने नाम की चिट भिजवाई। तत्काल उन्होंने अपने कमरे में बुला लिया। न तो उनमें थोथा बड़प्पन दिखाई दिया और न अभिमान! बड़े स्नेह से मिले। दो चार बातों के बाद तो जान ही नहीं पड़ा कि वह किसी प्रकार अपरिचित हों।

साथ लाए मूर्तिखण्डों और सिक्कों को लेकर आजमगढ़ के खंडहरों से बात आरम्भ हुई और थोड़ी देर में अनेक दिशाओं और क्षेत्रों से होती हुई अपने ईप्सित विषय—अग्रवाल जाति के इतिहास —पर जा पहुँची। उन्होंने मेरी बातें सुनी, कुछ सूत्र बताए। उसके बाद तो निस्संकोच अपनी उल्टी-सीधी जिज्ञासाएँ लिख भेजता और वह बड़े उत्साह और स्नेह से उत्तर देते। उन्होंने मुझे इस तरह अपना लिया कि जब मेरा 'अग्रवाल जाति का विकास' प्रकाशित हुआ, तब उस पर दो-चार पंक्ति की सम्मति नहीं, पूरा एक लम्बा

लेख लिखा। उसमें मेरे कार्य की सराहना तो थी ही, उस विषय पर शोध जारी रखने की दिशा में भी अनेक नई जानकारियाँ उन्होंने दी थीं।

जब राय कृष्ण दास के सुझाव पर मैंने गुप्त सम्राटों के सिक्कों पर एक विस्तृत पुस्तक लिखने का विचार किया और यह बात उन्हें लिख भेजी, तो उन्होंने तत्काल अंग्रेजी में एक लम्बा पत्र लिखा और उसकी आवश्यकता पर बल दिया। यही नहीं, अपने पत्र में अत्यन्त विस्तार के साथ बताया कि इस दिशा में किस तरह काम आरम्भ करना चाहिए। किस तरह सामग्री एकत्र की जानी चाहिए, क्या काम पहले करना चाहिए। साथ में यह भी लिखा कि वह प्रयत्न करेंगे कि भारतीय मुद्रातत्त्व-परिषद मुझे आर्थिक सहायता दे, जिससे मैं विभिन्न संग्रहालयों में जाकर सिक्कों को देख सकूँ और उनका अध्ययन कर सकूँ। उसके बाद जब मैंने सामग्री सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने के निमित्त संग्राहकों और संग्रहालयों को भेजने के लिए परिपत्र तैयार किया, जब उसे स्वयं उन्होंने अन्तिम रूप दिया। परिपत्रों के जो उत्तर आए, उनसे मुझे और निराशा हुई उस समय उन्होंने लिखा— "निराश तनिक भी मत हो। अपना काम जारी रखो।" और प्राप्त उत्तरों के मूल में जो कारण थे, उसे विस्तार के साथ समझाया। इस ढंग से उत्साह के साथ प्रोत्साहित किया जाने पर कौन ऐसा होगा, जो काम छोड़ दे। मैं काम पूरा करने में जुट गया। पर तभी ज्ञात हुआ कि गुरुवर अल्तेकर जी भी इसी दिशा में काम कर रहे हैं। आगे काम करना उनसे प्रतिस्पर्धा करना होगा, अत: काम तो वहीं बन्द हो गया। पर शोध की दिशा में कार्य करने की एक व्यवस्थित पद्धति का परिचय मिला।

अध्ययन-प्रणाली वैज्ञानिक हो

एम.ए. की परीक्षा के निमित्त जब मैंने 'गंगाघाटी की मृण्मूर्तियों पर शोध-निबन्ध प्रस्तुत करने का निश्चय किया और उसकी रूप रेखा अग्रवाल जी को लिख भेजी, तब जिस ढंग से उन्होंने प्रोत्साहित किया वह अविस्मरणीय है। उन्होंने लिखा— "आपने मिट्टी के खिलौनों पर अपने ईप्सित निबन्ध का जो ब्योरा लिखा है, इतना कर लें तो बहुत बढ़िया चीज तैयार हो जायगी। अध्ययन की प्रणाली शुद्ध वैज्ञानिक होनी चाहिए। चुने हुए चित्रों का संग्रह कर लेना चाहिए। जब कुछ काम कर लें, तब फिर मुझे दिखला सकते हैं। सूची आपको स्वयं बनानी चाहिए। यह निबन्ध-लेखन की पहली सीढ़ी है।"

प्रेरणा-मन्त्र

अन्तिम दो पंक्तियों को पढ़कर मुझे लगा कि मैंने अध्ययन सम्बन्धी अपेक्षित सामग्री की सूची बना देने का अनुरोध कर अनुचित किया। मुझे सूची स्वयं बनाकर उसकी त्रुटियों को पूछना चाहिए था। अत: मैने खेद प्रकट करते हुए इस अविनय के लिए क्षमा चाही। उसका जो उत्तर आया वह उत्तर मात्र नहीं है, अग्रवाल जी का अपना चित्र है और दूसरों के लिए प्रेरणा-मन्त्र। उन्होंने लिखा था— "पत्र पढ़कर गद्‌गद् हो गया! ईश्वर करे विनय के क्षेत्र में भी विद्योपार्जन के साथ तुम्हारा प्रवेश-द्वार अधिकाधिक उन्मुक्त होता रहे।

मानवीय हृदय में स्वयं जिस बात का अनुभव होता है, वही सच्चा मूल्यवान् अनुभव है। जिसे जो आता है, उसे उतना प्राप्त कर लेना मनुष्य की अपनी चतुराई पर निर्भर है। प्रत्येक विद्यार्थी सच्चा दोग्धा होता है। उसके पास जितनी ही युक्ति होगी, उतना ही अधिक दोहन वह कर सकेगा। मेरा मन तुम्हारी ओर से शुद्ध है, पर मुझे तुमसे बहुत आशाएँ हैं, इसीलिए चाहता हूँ कि तुम्हारा सर्वतोभावेन विकास हो। एक मन्त्र बताता हूँ। अपने अध्ययन में जो वस्तु जहाँ से ग्रहण करो, कृतज्ञतापूर्वक उसे स्वीकार करना। इससे मन और बुद्धि का विकास होगा।''

इस प्रकार उन्होंने न केवल एम.ए. के निबन्ध के प्रसंग से विद्याप्राप्ति की दिशा में मार्गदर्शन किया, वरन् पी-एच.डी. के निबन्ध का भी निर्देशन किया। किन्तु उनका निर्देशन अन्य निर्देशकों से सर्वथा भिन्न था। निबन्ध की जो रूपरेखा मैंने उनके सामने उपस्थित की उसे देखा, उसके सम्बन्ध में अपना विचार बतलाया और फिर मुझे काम करने को स्वतंत्र छोड़ दिया। दो वर्ष के अनुसंधान-काल में उन्होंने कभी नहीं पूछा कि मैं क्या कर रहा हूँ। मैंने अपने कार्य का जो अर्धवार्षिक विवरण उनके सामने रखा, उसे उन्होंने सन्तोषजनक माना। किन्तु जब अनुसन्धान-काल समाप्त हो जाने के कई साल बाद तक विश्वविद्यालय के सम्मुख मैं अपना निबन्ध प्रस्तुत न कर सका, तब वह चिन्तित हुए। प्रायः अपने हर पत्र में पूछते रहे कि निबन्ध का क्या हो रहा है? वह सदैव इस बात के लिए चिन्तित थे कि मैं निबन्ध शीघ्र प्रस्तुत कर दूँ और जब मैंने निबन्ध तैयार कर अन्तिम रूप देने से पूर्व सुझाव देने के लिए भेजा, तब एक बार आद्यन्त देखकर उन्होंने उसे रख दिया। जब मैं उस पर विमर्श करने के लिए गया, तब निबन्ध लौटाते हुए इतना ही कहा— ''सबमिट् कर दो!'' एक भी सुझाव देने की आवश्यकता उन्हें नहीं जान पड़ी! यह है उनके उदार हृदय का परिचायक।

कार्य सच्चाई से हो

लेखन की पुरातत्त्व और कला सम्बन्धी गतिविधि पर ही उनकी दृष्टि नहीं थी, वह उसके अन्य कार्यों पर भी निगाह रखते थे। 'चन्दायन' की खोज का समाचार जब उन्हें मिला, तब उन्होंने लिख भेजा— ''चन्दायन की नई प्रति के समाचार से चित्त प्रसन्न हो गया। अब इस ग्रन्थ के मूल पाठ का उद्धार हो जायगा। अवश्य प्रेस-कापी यथासम्भव शीघ्र तैयार करना— पाठान्तरों के साथ।'' 'चन्दायन' के देखने के पश्चात् उन्होंने मुझे सुझाया था—

''पद्मावत के मूल पाठ का संशोधित संस्करण नई सामग्री के आधार पर तैयार करें, अच्छा रहेगा। लेकिन सब पाठ सच्चाई से यथास्थान देना चाहिए।'' नहीं जानता उनकी इस इच्छा की पूर्ति कब कर सकूँगा।

वासुदेव जी का इस रूप में मैं शिष्य था और उनसे मुझे गुरू का आशीर्वाद प्राप्त था। इतना ही नहीं, उन्होंने बड़े भाई का स्नेह भी दिया था और उन्हें ''भाई साहब'' कहने का अधिकार मुझे प्राप्त था। अपने सन्दर्भ में अग्रवाल जी के सम्बन्ध में जितना भी लिखूँ, थोड़ा है। वह मेरे निर्माताओं में थे। आज मैं जो कुछ हूँ, मेरे अस्तित्व का आज जो रूप है, उसे बहुत-कुछ उन्होंने साजा-सँवारा था, सहारा दिया था। उनका मैं ऋणी हूँ और आजीवन रहूँगा।

अग्रवाल जी के यहाँ मिलनेवालों का ताँता लगा रहता था, पर इससे उनके काम में कभी व्यवधान नहीं पड़ता था। ऐसे कम ही लोग थे, जिनके आने पर वह अपने सामने का काम छोड़कर बात करने बैठते थे। अन्यथा वह अपनी मेज के सामने बैठ काम करते जाते और आगन्तुक की बातें सुनते जाते थे तथा उसका यथोचित उत्तर देते रहते थे।

उनके सामने हर समय छोटी-सी नोटबुक रहती थी। यदि बाहर जाते तो यह नोटबुक उनकी जेब में पड़ी रहती। बातचीत के बीच जहाँ किसी ने कोई नई बात कही, नई जानकारी दी, तत्काल वह बात उनकी नोटबुक में दर्ज हो जाती। पीछे इस प्रकार की जानकारियों को बड़ी कापी में विषय के अनुसार छाँटकर लिख लिया करते और यथा समय उसका उपयोग करते।

माँ सरस्वती के तापस पुत्र

सच्चे अर्थों में अग्रवाल जी माँ सरस्वती के तापस पुत्र थे। भारतीय संस्कृति और वाङ्मय का कदाचित ही कोई ऐसा क्षेत्र हो, जहाँ उनका प्रवेश न रहा हो। वैदिक साहित्य के मंथन के रूप में उनके ग्रन्थ हैं— वेद-विद्या, वेद-रश्मि, उरुज्योति, स्पार्क्स फ्राम वैदिक फायर, हिम आफ क्रियेशन, विजन इन लांग डार्कनेस, वैदिक लेक्चर्स। पुराणों के अध्ययन के परिणाम हैं— वामन-पुराण, मत्स्य-पुराण, देवी-माहात्म्य, मार्कण्डेय-पुराण— एक सांस्कृतिक अध्ययन। पाणिनि के अष्टाध्यायी जैसे शुष्क व्याकरण को मथकर "इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि" (पाणिनिकालीन भारत) के रूप में तत्कालीन भारतीय जीवन का चित्र उन्होंने उपस्थित किया। संस्कृत साहित्य में अध्ययन की एक नई दिशा उन्होंने बताई है अपने 'मेघदूत-एक अध्ययन' 'हर्षचरित्र -एक सांस्कृतिक अध्ययन' और 'कादम्बरी का सांस्कृतिक अध्ययन' में कला सम्बन्धी उनकी कृतियाँ हैं— मथुरा-संग्रहालय की सूची, चक्रध्वज, स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, इवोल्यूशन आफ हिन्दू टेम्पुल्स एण्ड अदर ऐसेज, कल्पवृक्ष। जायसीकृत पदमावत का संजीवनी भाष्य उपस्थित कर हिन्दी साहित्य की टीका और व्याख्या के क्षेत्र में उन्होंने एक क्रान्ति कर दी। विद्यापति की कीर्तिलता को सुबोध उन्होंने बनाया। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके अन्य ग्रन्थ हैं— भारत-सावित्री, गीता-नवनीत, चतुर्भाणी, पृथ्वीपुत्र, कला और संस्कृति, भारत की मौलिक एकता। इनके अतिरिक्त भी उनके कुछ और प्रकाशित ग्रंथ हो सकते हैं। प्रकाशित सामग्री के अतिरिक्त अनुमान किया जाता है कि कई हजार पृष्ठों की लिखित अप्रकाशित सामग्री वह छोड़ गए हैं।



(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से साभार)

उन्होंने लिखा
के भूगोल को निकट
में छात्रों के दल यात्री
की ओर से मिलना
स्थान देना है और
भारतीय संस्कृ
चकाचौंध में पड़कर
ज्ञान-विज्ञान से तो पू
बन जाना चाहिए।''

ी उन्हें प्राणों से अधिक प्रिय थी

● श्री विश्वम्भर सहाय 'प्रेमी'

भारतीय संस्कृति के पोषक, मानवता की प्रतिमूर्ति
ोक में नहीं रहे। शेष है उनका अमूल्य साहित्य,
की वह स्मृति, जो उन्होंने न जाने कितने विद्वानों

नभर धर्मशास्त्रों का अध्ययन करते रहे। उनका
त्रों में अमूल्य रत्न भरे पड़े हैं। इन्हें वे ही पा सकते
'' उन्होंने वैदिक साहित्य का गहन अध्ययन करके,
है, वह न केवल भारतवासियों को बल्कि संसार के
र ले जाएगा।
ोंने बड़े परिमार्जित रूप में रखा है। पुराणों की
प्रस्तुत किया है कि उनके पढ़ने से मानव को अनेक
के मन में अपने देवी-देवताओं और पूर्वजों के प्रति
णिक आख्यायिकाओं को कपोलकल्पित न मानकर
नव को धर्म के मार्ग में आगे बढ़ने की प्रेरणा मिले।
पचास से अधिक ग्रंथ लिखे हैं। भारत के प्राचीन
र भी उन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की है। मुझे
त-सी पुस्तकों की पांडुलिपियाँ अभी ज्यों-की-त्यों

क ज्ञान का प्रश्न है, वह अपने विषय के लिए
के जितने भी संग्रहालय हैं, उनमें कार्य करने वालों
मुझे उनके कई ऐसे शिष्यों से मिलने का अवसर
नी कठिनाइयों को सुलझाने के लिए परामर्श लेते
पुरातत्त्व-विभाग के अध्यक्ष श्री कृष्ण दत्त वाजपेई
करने का अवसर प्राप्त हुआ। वह उन्हें अपना
होंने ताया कि 'मुझे या मेरे किसी साथी को जब
-निर्धारण में कोई कठिनाई हुई, तब हमने डॉ.

वासुदेवशरण जी से सहायता प्राप्त करके उसे सुलझाया।'

पुरातत्त्व-सामग्री की खोज में डॉ. अग्रवाल की विशेष रुचि रही। पुरातत्त्व-विभाग ने उन्हें अपनी ओर आकर्षित किया। किसी कालेज में प्रोफेसर होकर काम करने की अपेक्षा उन्होंने उत्तर प्रदेश के राजकीय संग्रहालय (लखनऊ) में काम करना पसन्द किया। वहाँ वह क्यूरेटर के पद पर नियुक्त किए गए। उन्होंने इस संग्रहालय को सम्पन्न बनाने का भरसक यत्न किया। इसके पश्चात् वह दिल्ली के नेशनल म्यूजियम में कार्य करने लगे। देखा जाए तो वह इसके संस्थापक ही थे। इन्होंने इसे विस्तार देने का भरसक यत्न किया और बहुत-सी प्राचीन सामग्री एकत्र करके इसे सुन्दर रूप दिया।

भारत की पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री को वह प्राणों से अधिक प्रिय वस्तु मानते थे। उनकी दृष्टि में छोटी-से-छोटी प्राचीन वस्तु का भी बड़ा मूल्य था। जिन प्राचीन स्थानों को उन्होंने देखा उनके बारे में उन्होंने अधिक से अधिक जानकारी अपने देशवासियों को दी। उनके ध्यान में यह बात रहती थी कि कहाँ कौन वस्तु सुरक्षित किए जाने योग्य है। इसके लिए वह सरकार को अपने सुझाव भी देते थे।

डॉ. वासुदेवशरण जी से इस विषय में मेरी कई बार बातें हुईं। उन्हें यह पता था कि मैंने उत्तराखंड की अनेक बार यात्रा की है। मेरे गंगोत्तरी, यमुनोत्तरी, बद्रीनाथ एवं अन्य स्थानों में जाने का उन्हें पता था। वह भी कई स्थानों की यात्रा कर आए थे। उनका कहना था— "उत्तराखंड में प्राप्त प्राचीन ग्रंथों, ताम्रपत्रों एवं अन्य प्राचीन सामग्री का विधिवत् संकलन एवं संरक्षण होना चाहिए।" उनकी इच्छा थी कि बद्रीनाथ-मन्दिर-समिति इस कार्य को अपने हाथ में ले। उनका सुझाव था कि मन्दिर-समिति जोशीमठ में एक अच्छा संग्रहालय बना दे। उन्होंने मुझसे पांडुकेश्वर की मूर्तियों एवं वहाँ के ताम्रपत्रों की सुरक्षा किए जाने के संबंध में भी चर्चा की थी। इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि डॉ. सीताराम जी ने भी, जो बद्रीनाथ-मन्दिर-समिति के वर्षों तक अध्यक्ष रहे हैं, उक्त मन्दिर-समिति को सुझाव भेजा था कि सरकार बद्रीनाथ में एक संग्रहालय बना दे और वहाँ पर उत्तराखंड की पुरातत्त्व-सम्बन्धी सारी सामग्री एकत्र कर दे, ताकि उसका लाभ भारत भर से आनेवाले असंख्य यात्री उठा सकें।

डॉ. अग्रवाल जी ने मुझे सदा अपना स्नेह प्रदान किया। अभी पिछले दिनों दिसम्बर, १९६५, में वह काफी बीमार हुए थे। जब वह कुछ स्वस्थ हुए, तब उन्होंने मेरी पुस्तक 'हिमालय में भारतीय संस्कृति' की भूमिका लिखने की कृपा की। मेरा पुत्र वाराणसी में जब उनसे मिला, तब वह कहने लगे—'मुझे पुस्तक की भूमिका लिखने का साहस केवल इसलिए हुआ कि वह पुस्तक प्रेमी जी की है। और मैं उनसे विशेष प्रेम रखता हूँ।"

श्री वासुदेव जी ने हिमालय का भ्रमण किया था। उनका कहना था— "हिमालय का अलौकिक सौन्दर्य मुझे अपनी ओर आकर्षित करता है, परन्तु वहाँ की यात्रा के लिए शरीर भी स्वस्थ होना चाहिए।"

उन्होंने लिखा है— "भारत के नवयुवकों के लिए आवश्यक है कि वे हिमालय के भूगोल को निकट से जानें। यह कार्य दो प्रकार से सम्भव है— एक तो प्रति वर्ष गर्मियों में छात्रों के दल यात्री रूप में हिमालय का भ्रमण करें, जिसका निर्देशन और व्यय विभाग की ओर से मिलना चाहिए, और दूसरा उपाय हिमालय-सम्बन्धी ग्रंथों को पाठयक्रम में स्थान देना है और विशेष व्याख्यानों का प्रबन्ध करना है।"

भारतीय संस्कृति के वह अनन्य भक्त थे। उनका कहना था— "पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध में पड़कर हम अपने आध्यात्मिकता की रक्षा नहीं कर सकेंगे। हमे पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान से तो पूरा लाभ उठाना चाहिए, परन्तु वहाँ की सभ्यता का दास हमें नहीं बन जाना चाहिए।"



उन्होंने अधिकांश हिन्दी में क्यों लिखा?

● श्री सी० शिवराम मूर्ति

डॉक्टर अग्रवाल को केवल अध्ययन में ही रुचि नहीं थी, बल्कि साहित्य में निरूपित विभिन्न प्रकार के प्रसंगों और विचारों पर वाद-विवाद करने में भी उन्हें रस आता था। उसी रुचि के साथ उन्हें समझने का भी प्रयत्न वह करते थे। अपने साथी विद्वानों के साथ ऐसे विषयों और प्रसंगों पर वाद-विवाद करने की उनकी अत्यधिक रुचि पर मुझे सदैव विद्यानाथ द्वारा किए गए प्रतापरुद्र के वर्णन की याद आती है कि वह किस प्रकार कवियों के साथ साहित्यिक वाद-विवाद करने में आनन्द प्राप्त करते थे—'गोष्ठिभिः परितोषयन् बुधगणाम्।

मुझे याद आता है कि किस प्रकार उनका घर साहित्यिक मित्रों से भरा रहता था और किस प्रकार अपने उत्तम विचारों से वह मित्रों का मनोरंजन कर प्रसन्नता का अनुभव करते थे।

संस्कृत-साहित्य के उत्कृष्ट रत्नों को हिन्दी में प्रस्तुत करने की उनकी जितनी तीव्र इच्छा थी, उतना ही उन्हें संस्कृति साहित्य के उत्कृष्ट प्रेम था। उनकी यह इच्छा थी कि साधारण वर्ग के व्यक्ति भी काव्यों और महाकाव्यों के बारे में जानें। जब मैंने उनका ध्यान इस ओर आकर्षित किया था कि वह अधिकांश हिन्दी में लिखकर संसार के बहुत से अन्य व्यक्तियों को अपनी कृतियों से वंचित रख रहे हैं, तो उन्होंने मुझसे कहा था कि उनका पहला कर्त्तव्य अपने निकट के व्यक्तियों को अपने विचारों से अवगत कराना है और सचमुच यदि वह ऐसा नहीं करते, तो निश्चय ही जो कुछ उन्होंने हमें दिया है, न दे पाते।



(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से साभार)

डॉ. वासुदेव : मेरे गुरू

● डॉ. आनन्द कृष्ण

जब पहली बार अतिथि के रूप में वासुदेवशरण जी काशी में हम लोगों के यहाँ टिके, तब किसी को यह भान भी न था कि उसी यात्रा में वह हमारे परिवार के अंग बन जाएँगे। पर उनकी निश्छलता ने सबकों मोह लिया। वह गृहस्थ आश्रम में रहते हुए भी सच्चे साधु थे— नरसी मेहता की परिभाषा में वैष्णव। यह बात प्राय: १९४० की होनी चाहिए।

उन्होंने मथुरा-संग्रहालय में रहते हुए भारतीय कलाओं का गहन अध्ययन किया था। उनके प्रकाशन संसार के सम्मुख आ रहे थे और उनमें कुमारस्वामी की परम्परा अग्रसर होती दीख रही थी। भारतीय मूर्तिकला की कुंजी प्राचीन संस्कृत, पाली, अपभ्रंश साहित्य में है। यद्यपि पूर्ववर्ती विद्वानों ने इस दिशा में काम किया था, तथापि भारतीय परम्पराओं के इस अथाह सागर में बहुत अधिक अन्वेषण अपेक्षित था। भारतीय कलाओं की पृष्ठभूमि में एक-एक शब्द की सार्थकता उन्होंने इसी भाँति प्रकट की।

सिद्धान्त के मामले में वह सर्वथा दृढ़ थे, जिसके अनेक उदाहरण आज भी लोगों की जबान पर है। काशी-विश्वविद्यालय के एक भूतपूर्व अधिकारी लोगों से प्राय: टेढ़ी-मेढ़ी बातें करते। परन्तु वासुदेव शरण जी पर रोब गाँठने के लिए जब उन्होंने कहा— "मैं किसी की परवाह नहीं करता!" तो उन्हें छूटते ही बड़े विनम्र रूप में, पर दृढ़ स्वर में, उत्तर मिला— "मैं भी नहीं करता।" उसके बाद फिर ऐसी नौबत नहीं आई। वस्तुत: अध्यापकों की प्रतिष्ठा की उन्होंने जितनी रक्षा की और इसके लिए जितना बलिदान किया उतना अन्यत्र कम ही मिलेगा। एक बार तो वह नौकरी छोड़-छाड़ कर कुटिया छवाकर बसनेवाले थे।

उनकी ईमानदारी अडिग थी। स्वर्गीय एन.सी. मेहता उन दिनों उत्तर प्रदेश सरकार के सचिव थे और 'भाई साहब' (स्व. वासुदेवशरण जी) लखनऊ में राजकीय संग्रहालय के अध्यक्ष थे। एक बार हम लोग उनके साथ लखनऊ-संग्रहालय (जब पुरानी इमारत में) गए। उन दिनों 'भाई साहब' ने एक घर का टाँगा रखा था, जो उनकी सवारी में रहता था। एक दिन उन्होंने उसके घोड़े को म्यूजियम के अहाते में चरते देख लिया। बस, तुरन्त कोचवान बुलाया गया और हुक्म हुआ कि अब ऐसा न हो! उनके शब्द आज भी मेरे कानों में गूँजते हैं— "अजायबघर की घास मेरे घोड़े को न पचेगी।"

उनका परिवार यद्यपि लखनऊ में आकर बस गया था, तथापि काफी हद तक इन लोगों के संस्कार मेरठ जनपद ही के थे। वासुदेवशरण जी को अपनी इस परम्परा पर गर्व था। डॉ. मोती चन्द्र जी के साथ जब उनकी मित्रता हुई, जब उनके जीवन में डबल रोटी जैसी चीजें आ गई, अन्यथा इन सबका निषेध था। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था— "मैंने जीवन में सोडावाटर तक नहीं पिया है।" चाय-काफी तो कोसों दूर थी।

एक बार दिल्ली में 'भाई साहब' (मेरे पिताजी से मिलने) लाला हरीचन्द जी के यहाँ गए। वह खाने-खिलाने के शौकीन थे, बल्कि उनका आग्रह सीमा पार कर जाता था। हम लोगों के साथ डॉ. मोती चन्द्र जी भी वहीं टिके थे। डॉ. साहब खाने की चीज थाली में छोड़कर उठने के विरोधी सदैव रहे। उनका तो बुरा हाल था, आँखों में आँसू भरकर विनती करते, तब कभी-कभी ही छुटकारा पाते।

हरीचन्द जी ने बढ़िया काफी बनवाई थी। हम लोग उसे पी रहे थे कि भाई साहब वहाँ मिलने आए। लाला हरीचन्द जी ने स्वभावत: 'भाई साहब' से इतना आग्रह किया, बल्कि इतना दबाव डाला कि वह बिल्कुल लाचार हो गए। अन्त में अपने जन्म भर के नियम को तोड़कर काफी पीने ही वाले थे कि पिताजी ने बीच-बचाव कर किसी प्रकार उनको छुटकारा दिलवाया। पिता जी जानते थे, यदि भाई साहब ने काफी पी ली, तो कई दिनों तक उपवास आदि शारीरिक यन्त्रणा से ही वह अपनी शुद्धि करेंगे!

जनपदीय प्रेम ने उन्हें जनपदीय संस्कृति की ओर आकृष्ट किया। पहले तो वह अपने घर ही में सुन पड़नेवाले शब्दों, मुहावरों या अन्य परम्पराओं का संग्रह करते रहे। फिर उन्होंने स्वयं तथा अपने सहयोगियों के द्वारा इस आन्दोलन को विस्तृत किया। एक बार उन्होंने लिखा था— 'हिमालय से विन्ध्य तक का जनपद हमें पुकार रहा है।' जहाँ उन्हें काम का कोई शब्द मिला, उन्होंने नोट किया।

स्व. ब्रजमोहन जी व्यास, प्रयाग-संग्रहालय के संस्थापक, 'भाई साहब' को नोट करते देखते, तो कहा करते—

"पहले नरपति अस भए, कविता सुनत कछु देत।
अबके नरपति अस भए, कविता सुनत लिख लेत।"

वह हिन्दी में लिखने के पक्षपाती थे। उन्होंने हिन्दी के भण्डार को कितने ही रत्न दिए और आगे भी देते। उनका अधिकांश सर्जन हिन्दी में हुआ। उनका शोध-ग्रन्थ 'पाणिनिकालीन भारत' लखनऊ विश्वविद्यालय के अनुदान से जब अपने मूल अंग्रेजी रूप में छपा तो वह जैसे बेचैन से थे। हिन्दी-भाषी पाठक के लिए उसका सुलभ होना वह अपने कार्य का एक अंग मानते थे। उन्होंने अपने निजी व्यय में कम मूल्य पर उसका हिन्दी-संस्करण निकाला, तभी उन्हें सन्तोष हुआ। जब जवाहरलाल जी ने कलाभवन का उद्घाटन-भाषण अंग्रेजी में दिया, तब उन्होंने एक पुर्जे में लिखकर भेजा— 'अब जनता के लिए कुछ हिन्दी में भी।' जवाहरलाल जी को उनकी बात जँची और उन्होंने शेषांश को हिन्दी में पूरा किया।

वह लगातार दिन-दिन भर अपने काम में लगे रहते। उससे उन्हें अनुराग था। उसी बीच लोग आते-जाते रहते। उनसे बातें भी कर लेते और फिर तत्काल अपने काम में रम जाते, मानो कोई व्यवधान ही न हुआ हो। वह समय का अधिक से अधिक भाग अध्ययन या लेखन में लगाते। यह धीरे-धीरे इतना बढ़ गया कि वह समाज से कतराने लगे। लोगों से मिलना-जुलना तो दूर, यदि लोग उनके पास आते, तो उन्हें जल्दी ही टाल देते। पर विद्यार्थियों, शोधकर्त्ताओं और विद्वानों से अधिक से अधिक बातें करते। एक बार बहुत आग्रह से लोग उन्हें एक नाटक दिखलाने ले गए। वह वहाँ बैठकर पुस्तक पढ़ने लगे! डॉ. मोती चन्द्र जी कन्या की बारात आने वाली थी। सैकड़ों व्यक्ति दीवानखाने में उसके स्वागत में बैठे थे। उन्हीं के बीच 'भाई साहब' अपनी पुस्तकों के प्रूफ देखने लगे और बारात के आते आते उन्होंने प्रूफ का काम समाप्त कर डाला।

कभी-कभी काम करने में उन्होंने हठयोग भी किया, जिससे स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पड़ा। एक बार मैं उनके पास गया, तो पाया कि थककर पड़े है। उन्होंनें बताया कि एक आसन पर बैठकर वह विगत ३६ घंटों तक प्रूफ देखते रहे थे। इस बीच कुछ खाया-पिया भी नहीं। इन्हीं अत्याचारों से उनका शरीर जर्जर हो गया। जब वह स्वस्थ थे, तब स्वयं कहा करते थे कि कितना ही काम करता हूँ, कभी थकान नहीं आती। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के 'विक्रमांक' के सम्पादन के समय हम लोगों ने यह पाया कि वह सुबह छह बजे से बारह बजे रात तक अनवरत लिखते या डिक्टेशन देते रहते थे। बीच-बीच में घर के बने पेड़े खाते रहते थे, जो उन्हें अत्यन्त प्रिय थे।

भारत के स्वतन्त्र होने के पहले ही वह दिल्ली चले गए थे। वहाँ पुरातत्त्व-विभाग के अन्तर्गत मध्येशिया-संग्रहालय के तथा उसके साथ उक्त विभाग के अधीन सभी संग्रहालयों के वह अधिकारी थे। अंग्रेजी साम्राज्य ने विदा लेते-लेते भारतीय कलाओं की एक विराट प्रदर्शनी लन्दन में की थी। उसमें भारतीय संग्रहालयों ने अपनी चुनी हुई वस्तुएँ भेजी थीं। रियासतों से चीजें उधार मिली और स्वयं इंग्लैण्ड के विश्वविख्यात संग्रहों के भारतीय कलारत्न तो उपलब्ध ही थे। उक्त प्रदर्शनी के समाप्त होने पर सामग्री लौटकर भारत आई और राष्ट्रपति-भवन के दरबार-हाल में उसकी एक प्रदर्शनी हुई। ''भाई साहब'' ने बहुत दौड़-धूप के बाद अनेक व्यक्तियों और संस्थाओं को इस बात पर राजी कर लिया कि उक्त वस्तुएँ राष्ट्रीय संग्रहालय में रह जाएँ। इस प्रकार राष्ट्रीय संग्रहालय को प्रारम्भ में ही एक बड़ा भंडार मिल गया।

वासुदेवशरण जी का हिन्दू-धर्म जागरुकता, सहिष्णुता और जीवन-दर्शन पर आधारित था। जिस धर्म में मनुष्य के कुल नियमों को तत्त्व रूप में ग्रहण किया गया है, जिसमे उपासना के किसी भी मार्ग के लिए अवरोध नहीं है, जो इन आर्य तत्त्वों को मनुष्य मात्र के लिए सुलभ करता है, उसे छोड़कर अन्यत्र जाने की क्या आवश्यकता है? परवर्ती कुछ वर्षों में उनका बहुत-सा समय हिन्दू धर्म के प्रतीकों की दार्शनिक व्याख्या में अर्पित

हुआ। इस दिशा में उनकी खोजें ठोस धरातल पर आधारित थी। एक बार उन्होंने बड़े विस्तार से और गहनतापूर्वक यह समझाया था कि शुंग-कुषाणकाल में ईरान के अग्नि-पूजक धर्म का किस प्रकार वैष्णव धर्म में भारतीयकरण हुआ था।

हिन्दू-धर्म और विशेष रूप से वैष्णव धर्म के प्रति उनकी जो अपार श्रद्धा थी, उसके फलस्वरूप किसी भारतीय अथवा अभारतीय धर्म के प्रति वह विद्रोही न बने। विशेष रूप से जैन और बौद्ध सम्प्रदायों के विपुल वाङ्मय में उनका सहज प्रवेश था। वह इन्हें हिन्दू-धर्म के प्रति विद्रोह नहीं, वरन् उसी का एक विकास मानते थे। इन सम्प्रदायों के प्रति उनका दृष्टिकोण पारस्परिक समष्टि वाला था, मतभेद वाला नहीं।

(साप्ताहिक हिन्दुस्तान से साभार)



वह हँसमुख और विनम्र चेहरा

● श्री सुरेश सिंह

श्री वासुदेवशरण जी हम लोगों से सदा के लिए बिछुड़ गए। उनके निधन से हमारी भाषा का एक ऐसा विशाल वटवृक्ष अचानक सूख गया, जिसकी सघन छाया के नीचे बैठकर शतशः विद्यार्थी और शोधार्थी अपना ज्ञानवर्धन तथा अपनी जिज्ञासाओं का समाधान किया करते थे। ज्ञान का वह स्रोत जो अपनी शत-शत्र धाराओं से हमारी ज्ञान-पिपासा की शान्ति करता था, सदा के लिए शुष्क हो गया।

मुझे बचपन ही से पक्षियों से प्रेम था और उनके बारे में जानकारी प्राप्त करने की प्रबल इच्छा प्रारम्भ ही से थी। लेकिन यदि डॉक्टर साहब से मुझे इतना उत्साहवर्धन न मिलता, तो मैं प्राणिशास्त्र द्वारा हिन्दी की कुछ भी सेवा कर पाता या नहीं इसमें सन्देह है।

शरीर से दुर्बल रहने पर भी उनमें काम करने की ऐसी अदभूत शक्ति थी कि उन-सा सक्रिय शक्ति मैंने कोई दूसरा नहीं देखा। मैंने जब उनके सम्मुख लखनऊ में प्राणिशास्त्र के प्रचार के लिए 'बाम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी' जैसी एक संस्था खोलने का प्रस्ताव रखा, तब वह प्रसन्न हो गए। उसी दिन से वह उसकी स्थापना में जी-जान से जुट गए। और जब तक वह संस्था स्थापित होकर चलने नहीं लगी, उन्होंने मुझे दम नहीं लेने दिया।

इस संस्था का नाम डॉक्टर साहब ने 'हिन्दी-प्रकृति-मण्डल' रखा और यह लगभग दो वर्षो तक सुचारू रूप से चली, लेकिन डॉक्टर साहब के दिल्ली चले जाने पर मेरे लिए उसका अकेले चलाना सम्भव न हो सका और वह सदा के लिए बन्द हो गई। अभिमान जैसी कोई वस्तु भी संसार में होती है, डॉक्टर साहब ने कभी नहीं जाना। मुझे जीवन में बहुत-से विद्वानों के निकट रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, लेकिन उन-सा सरल स्वभाव का निरभिमानी व्यक्ति मैंने दूसरा नहीं देखा। हिन्दी और संस्कृत के ऐसे प्रकाण्ड विद्वान, जिन्हें खोकर आज हमारी भाषा अनाथ हो गई है, जब भारतीय साहित्य, दर्शन तथा कलाकृतियों के बारे में बताने लगते थे, तब वह मानों बालकों की तरह भोले और सरल लगते थे। अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करना वह जैसे जानते ही नहीं थे। और जिस बात को वह नहीं जानते थे, उसे पूछने में उन्हें, तनिक भी संकोच नहीं होता था।

इसका यथेष्ट प्रमाण मुझे उस समय मिला, जब वह 'पद्मावत' की टीका कर रहे थे। चूँकि मेरी ननिहाल रीवाँ में है और रीवाँ में अधिक दिनों तक रहने के कारण जायसी की भाषा में बुन्देलखण्डी भाषा की पुट है, इससे डॉक्टर साहब 'पद्मावत' में वर्णित भोजन, वस्त्र, तथा पशु-पक्षियों के अर्थ तथा उनके अवधी रूप के बारे में मुझको अक्सर पत्र लिखा करते थे। जिस शब्द के लिए उन्हें जरा भी शंका रहती थी, वह उसका भली भाँति पता लगाकर ही उसे स्वीकार करते थे।

उदाहरणार्थ 'लगुना' शब्द को ही लें, जिसका जायसी ने एक जगह प्रयोग किया है— "जेते पसु लगुना बन बसे। चीतर गीइन झाँक अरू ससे।"

किसी टीकाकार ने 'लगुना' को एक प्रकार का मृग लिखा है, तो किसी ने कुछ और, लेकिन वास्तव में 'लगुना' जंगल के उस भाग को कहते हैं, जो किसी मैदान या नाले से मिलता है। हाँके के समय सब जानवर आकर उसी में इकट्ठे हो जाते हैं और फिर अधिक दबाव पड़ने पर ही वे वहाँ से भागते हैं। रीवाँ की ओर 'लगुना' शब्द आज भी शिकारियों में प्रचलित है।

डॉक्टर साहब ने इस शब्द के लिए कई बार लिखा और जब तक उनको इसके अर्थ का पूर्ण रूप से सन्तोष नहीं हो गया, तब तक उन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया। उनके उस समय के कुछ पत्र यहाँ दे रहा हूँ, जिनसे आपको उनके परिश्रम तथा लगन की एक झाँकी मिल जायगी।

(१)

म्यूजियम, १८-२-४१

प्रिय भाई सुरेश सिंह जी,

भारतीय जन्तु-जगत के सम्बन्ध में मेरी जो मधुर कल्पना थी, उसे मैं आपके द्वारा चरितार्थ होता देख रहा हूँ। नामकरण के सम्बन्ध में जो मेरी सहायता अपेक्षित होगी, मैं प्रस्तुत हूँ। आपसे उस दिन जो हिन्दी नाम मालूम हुए; उससे मुझे बड़ा लाभ हुआ। आशा है, आपकी भेजी हुई अन्य सूचियों से यहाँ के नामकरण को व्यवस्थित करने में सहायता मिलेगी।

(२)

आपने जो भारतीय चिड़ियों की सूची भेजी थी, वह मेरे बड़े काम की चीज है।, उसे प्राप्त करके मुझे बहुत प्रसन्नता हुई और उसके लिए मैं आपको जितना धन्यवाद भेजूँ, कम है। आपकी इस कृपा के लिए कि मैं उसका यथावश्यक उपयोग अजायबघर के कार्य में कर सकता हूँ, मैं और भी कृतज्ञ हूँ।

यह बहुत सुन्दर समाचार है कि आप एकान्त का समय भारतीय पक्षियों के सम्बन्ध में पुस्तकें लिखने में कर रहे हैं। भारतीय पक्षि-शास्त्र के जान-कार हिन्दी में इने-गिने है और आपसे परिचय प्राप्त करके मुझे एकान्त आनन्द हुआ था। कृपा करके आप इस साहित्यिक कार्य को अवश्य पूरा करें, क्योंकि आपके सदृश पक्षि-जगत का सुन्दर निरीक्षण बहुत कम लोगों ने किया होगा। संस्कृत साहित्य से भी इस सम्बन्ध की सामग्री को इकट्ठा करना होगा। पर वह कार्य पुस्तका या पंडिताऊ है और बाद में भी पूरा किया जा सकता है।

(३)

आपने जो मान मुझे दिया है, उसके लिए मेरा हृदय अत्यन्त कृतज्ञ है। साहित्यिक क्षेत्र में आपका कार्य मुझे अभूतपूर्व और अभिनन्दनीय प्रतीत हुआ। आपने अपने-आपको इस अमृत क्षेत्र के साथ संयुक्त करके अपने लिए इस ग्रहण का एक अक्षय स्रोत प्राप्त कर लिया है। संसार के वैभव का आनन्द जहाँ साथ नहीं देता, वहाँ भी साहित्य का रस व्यक्ति को आनन्द देता है। मैं जब आपकी परिश्रम-शक्ति को देखता हूँ तब तुझे सच्चा आश्चर्य होता है। साहित्य-सेवियों की ऐसी साधना से मामृभाषा में रत्नों के कोष भर जाते है। ईश्वर आपकी इस प्रतिभा और एक निष्ठता की उत्तरोत्तर वृद्धि करे। आप जैसे विनीत लेखक से हिन्दी को बड़ी आशाएँ है।

आपकी बार-बार की बीमारी से मेरे हृदय को दुःख हुआ था । अभी चिर- गाँव गया था। गुप्ता जी भी चिन्तित थे। मुझे यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि अब की बार घाव शीघ्रता से पूज रहा है।, मैंने आहार में थोड़ा परिवर्तन करने की जो सलाह दी थी, उसे आपने इतने सहर्ष मान लिया, यह बड़ी शुभ बात है। घाव भरने के लिए रक्त का आहार की प्रतिक्रिया (क्षारीय) होनी चाहिए। ऐसा मैंने पढ़ा और और अनुभव किया है। आमिष का Reaction acidic (अम्लीय) होता है, जिसके कारण रक्त में पुराने विष पूर्ववत् संचित रह जाते है। प्रकृति के बार-बार भीतर से प्रयत्न करने का यही कारण जान पड़ता है। इसी विचार से प्रेरित होकर मैंने हित बुद्धि से वह बात आपको लिखना अपना धर्म समझा। इस समय प्राकृतिक चिकित्सा विशेषत: आहार का ज्ञान कराने वाली दो-एक पुस्तकें आप पढ़ें, तो मन पर बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। Harry Benjamin कृत Your Diet in Health and Disease, 5th पुस्तक और Bernarr Macfdadden कृत Eating for your Health and Strength तथा Miracle of Milk पुस्तकें बड़ी रोचक और पठनीय हैं।

जो पुस्तक आपने भेजी थी, उसे मैंने यत्र-तत्र देखा। वह कुरान के अंशों का हिन्दी अवधी के दोहे-चौपाई में अनुवाद जान पड़ता है। उसके एक अंश का नाम दिया है— कयामतनामा, जिसमें मुसलमानी विश्वास के अनुसार इस विषय का वर्णन है। समय

मिलने पर और अधिक देख सकूंगा वह पुस्तक देकर आपके पास भेज दूँगा या 'नागरी प्रचारिणी सभा' के हस्तलिखित संग्रह में।

(४)

लखनऊ, ३०-११-४३

२०-११-४३ का कृपापत्र मिला

भारतीय पक्षियों के विषय में आप जो मैलिक कार्य कर रहे थे, उससे प्रभावित होकर उस कार्य का साहित्य जगत् में अभिनन्दन करके मैंने केवल अपने कर्त्तव्य का पालन किया, इससे अधिक और सब श्रेय आपको ही है। मैं उस दिन की बाट जोह रहा हूँ, जब एक ओर तो डेवर के जैसी रोचक शब्दावली से भरी हुई ५-७ पुस्तकें आप हमारे देश के गरूड़ के वंशजों पर लिख देंगे, और दूसरी ओर सैनफोर्ड जैसी एक वैज्ञानिक पद्धति से विषय का प्रामाणिक प्रतिपादन करती हुई बड़ी पुस्तक माता विनता की इस प्रभूति संतति पर, जिसने हमारे प्रकाश की गोद को भरा-पुरा कर रखा है, तैयार करके हिन्दी-साहित्य को कृतकृत्य करेंगे।

आपके अतिरिक्त इस समय हिन्दी में और कोई इस कार्य की सिद्धि का बरदान नहीं प्राप्त कर सकता। सभा को आपने वह हस्तलिखित ग्रन्थ भेंट किया, इसके लिए धन्यवाद स्वीकार कीजिए। हाँ, एक कापी अलग बना लीजिए, उसमें पक्षियों की बोली, उनके रंग, उनके चुग्गे, बच्चे, घोंसले, उड़ान, झपट्टा आदिक, जंगल बस्ती की यात्रा, जाया (बच्चा जनने की विशेषताएँ), नींद लेना, पानी में किलोल करना, धूप में नहाना, पालतूपना आदि उनके विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले शब्दों, मुहावरों, कहावतों और उस वर्णन के लिए चुस्त वाक्यों का जैसे-जैसे वे कान में पड़े या ध्यान में आएँ संग्रह करते चलिए। यह पक्षी शब्दावली हिन्दी में Orinthological Vocabulary का काम देगी। इसी से हमारे साहित्य में यह शास्त्र पनप सकेगा। छोटे से छोटे ठेठ देहाती शब्द का भी स्वागत होना चाहिए। हमारी लेखनी उसे भी नागरिक साहित्य का नागरिक बना सकती है। बया के घोंसले के लिए 'झोंझ' शब्द मैंने अक्सर गाँवों में सुना है। वह घोंसले से कहीं चुस्त है। वह बया के झूलते हुए तिनकों से गूंथे हुए घर का रूप खड़ा कर देता है। एक बार गांव में बैठा था। एक ठाकुर जमोंदार ने बातचीत के सिलसिले में कहा— ये इनको ऐसे वश में कर लेते है जैसे गुरसल भैंसे को ढाह लेती है। इसका मतलब था मृदु उपाय से वश में करना। गुरसल को आपने भी भैंस की पीठ पर सवार दिल्लगी करते देखा होगा। धीरे-धीरे भैंस को ऐसा गुदगुदाती है कि भैंस स्वयं लेट जाती है। और गुरसल अपनी चोंच से खुंजलाहट मेटती रहती है।

हमारे जनपद इस प्रकार की शब्दावली में बड़े धनी है। वहाँ कामं करने से ही उनके खजाने का पता चलता है। ऐसा मालूम होने लगता है कि पारिभाषिक शब्दों से कुबेर-

कोष के साथ किसीने हमारा परिचय करा दिया हो। मैंने इस दृष्टि से चार जनपदों में कुछ थोड़ा काम अभी तक किया। मेरठ, गढ़वाल, जौनसार, झाँसी और सब जगह एक सा ही अनुभव मिला। केवल गाय-भैंस के नामों से सम्बन्धित ५० शब्द मेरठ की बोली में एक गाँव में मैं इकट्ठा कर सका, जिनमें तो कई का सम्बन्ध वेदकाल और पाणिनिकाल की भाषा से था। आप स्वयं अपने विषय में पर्याप्त रुचि रखते हैं और बहुत सा कार्य उस दिशा में कर भी चुके हैं। आपसे अच्छा कौन जानता है कि गाँवों में कितना मसाला इस प्रकार के शब्दों का भरा पड़ा है। क्या ही अच्छा होगा जब हमारे साहित्यिक घर की इस महान निधि की ओर ध्यान देंगे।

(५)

काशी -विश्वविद्यालय

२१-३-५७

विशेष प्रसान्नता यह जानकर हुई कि अब आप क्रमशः स्वास्थ्य-लाभ कर रहे हैं। 'जीवन-जगत', 'शिकार के पक्षी' एवं 'भारतीय पक्षी' इन तीन पुस्तकों का १५०० पृष्ठों का साहित्य आपकी कीर्ति-पताका में नई वैजयन्ती जोड़ देगा। निस्संदेह आपने पिछले चालीस वर्षों में पशु-पक्षी संसार के मौलिक अनुसन्धान में जो साका किया है, उसकी उपमा हिन्दी क्षेत्र में तो नहीं मिलती। जो सामग्री का सुमेरू तिल-तिल करके आपने जोड़ा हैं वह मातृभाषा हिन्दी के चरणों में अर्पित करके आपका मन अपूर्व शान्तिलाभ करेगा। ऐसा मै मानता हूँ।..........

मैं भी इधर साहित्य के काम में लगा हूँ। महाभारत पर 'भारत-सावित्री' पुस्तक पूरी कर रहा हूँ। कला, साहित्य और वेद के अध्ययनक्षेत्र में नए द्वारों की खोज में हूँ।



'हिन्दी-साहित्य में डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का योगदान'

● श्री कमलेश सिंह

जन्मशती के अवसर पर आचार्य वासुदेवशरण अग्रवाल को याद करना भारत की गौरवशाली ऋषि परम्परा को याद करना है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल भारत की ऋषि परम्परा के चिन्तक, साधक तथा सत्यान्वेषी स्तम्भ हैं। आपने भारतीय कला के वाह्य पक्ष के अन्वेषण के स्थान पर आन्तरिक पक्ष की गवेषणा की, प्रस्तर प्रतिमाओं में शरीर की नहीं आत्मा की तलाश की, अर्थात डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का चिन्तन आत्मिक, भावात्मक तथा रागात्मक लय से युक्त था।

डॉ. वासुदेवशरणं अग्रवाल भारतीय इतिहास, पुरातत्व तथा कला की खोजों को हिन्दी में मौलिक लेखन द्वारा उजागर करके हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाया। जब देशी तथा विदेशी विद्वान भारतीय इतिहास, पुरातत्व तथा कला की नवीन खोजों तथा विश्लेषणों को अंग्रेजी के माध्यम से अभिव्यक्त कर रहे थे तो डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने हिन्दी में लेखन करके अपने युग की ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति की। राहुल सांकृत्यायन तथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसी शोध-दृष्टि रखने वाले डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने हिन्दी-माध्यम से शोधकर्ताओं को एक अमूल्य सांस्कृतिक सामग्री प्रदान की, जिसमें भावी अध्येधताओं का मार्ग प्रशस्त हुआ। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने एक ऐसी सरल तथा सहज गद्य-शैली का विकास किया, जिससे हिन्दी में, इतिहास, कला-संस्कृति, पुरातत्व आदि की सटीक व्याख्या हो सकी। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल एक साथ निबन्धकार-शोधकर्त्ता, भाष्यकार, सम्पादक, भाषा-वैज्ञानिक, अनुवादक तथा लोक-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान थे। लेकिन डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के व्यक्तित्व के विविध आयाम एक दूसरे के पूरक थे। इसी कारण डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का चिन्तन व्यापक फलक पर विस्तार पा सका।

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का— हिन्दी निबन्ध क्षेत्र में योगदान विशिष्ट ढंग का है। सांस्कृतिक तथा कलात्मक विषयों से सम्बन्धित गवेषणा पूर्ण निबन्ध हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। उनके निबन्धों में जहाँ एक तरफ वेद-पुराण तथा भारतीय शास्त्रों का विश्लेषण है तो दूसरी तरफ लोक-संस्कृति तथा जनपदीय-संस्कृति की भी व्याख्या है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के लेखों में डॉ. सम्पूर्णानन्द के लेखों की 'चिन्तन

प्रधानता' तथा डॉ. भगवतशरण उपाध्याय के लेखों का मार्क्सवादी दृष्टि से तथ्यों को संयोजित करने की क्षमता तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की शोध-गरिमा एक साथ मिलती है। इस सम्बन्ध में डॉ. स्नातक का मत है कि "सांस्कृतिक विषय पर निबन्ध लिखने वालो में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का नाम अन्यतम है। पुराण, इतिहास, धर्म, दर्शन तथा पुरातत्व को उपजीव्य बना कर भारतीय-संस्कृति के विविध पक्षों का उद्घाटन जितना अधिक इन्होंने किया है, उतना निबन्ध के माध्यम से किसी लेखक ने नहीं किया है।"[१] वस्तुतः डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के लेख— सांस्कृतिक तथा साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने भारतीय कला सम्बन्धी गहन तथा मौलिक चिन्तन हिन्दी गद्य में प्रस्तुत किया है। हिन्दी में कला सम्बन्धी शब्दों का निर्माण करने में डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल का महत्व अप्रतिम है।

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के प्रयत्नों से हिन्दी में टीका-विधा की पुनर्स्थापना हुई। इनका हिन्दी में यह कार्य संस्कृत के अभिनव गुप्त की तरह है। मलिक मुहम्मद जायसी ने मध्यकालीन जीवन का जो सांस्कृतिक स्वरूप प्रस्तुत किया था, उसकी अभूतपूर्व व्याख्या करके डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'पदमावत्' की टिकाओं में अपना विशिष्ट स्थान बनाया। 'कीर्तिलता' की संजीवनी व्याख्या में प्राकृत, अपभ्रंश तथा अवहट्ठ भाषा के विकासगत स्तरों की छानबीन की गई है। हिन्दी शब्दों की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या में डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल का स्थान विशिष्ट है। आधुनिक युग के यास्क की पदवी से सुशोभित डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने भारत की लोक-संस्कृति तथा लोक-शब्दों की व्युत्पत्ति मूलक व्याख्या प्रस्तुत किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस सम्बन्ध में लिखा है— "वे शब्दों के इतिहास के धनी थे। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने सहस्त्रों अर्थ— प्रसू शब्दों का संग्रह किया था। शब्दों के प्रति उनका अपूर्व अनुराग था। लोक भाषा के शब्दों को पाकर उन्हें जैसे निधि मिल जाती थी।"[२] डॉ. वासुदेवशरण के ज्येष्ठ पुत्र श्री स्कन्द कुमार ने डॉ. अग्रवाल को 'शब्दों का आचार्य'[३] कहा है। बोली विज्ञान के क्षेत्र में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का कोई सानी नहीं है। हिन्दी साहित्य के विकास को डॉ. वासुदेव अग्रवाल ने लोकपरकता से जोड़ कर जनपदीय आन्दोलन की व्याख्या की । डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल ने जनपदीय साहित्य के लेखन को नवीन चेतना देकर ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य किया। 'पृथिवीपुत्र' जनपदीय साहित्य से जुड़ी एक अदभुत पुस्तक है। हिन्दी में जनपदीय अध्ययन पर चलने वाले आन्दोलन के पुरोधा पं. बनारसी दास चतुर्वेदी ने लिखा है कि जनपदों में जाकर लोक कल्याण के लिए कार्य करने वाले को यह पुस्तक पाठय -पुस्तक की तरह पढ़ना चाहिए। वस्तुत लोक-संस्कृति का पोषण, रक्षण तथा उसके प्रति आदर भावना ही डॉ. वासुदेवशरण के कृतित्व का मूल सन्देश रहा है।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल में एक श्रेष्ठ सम्पादक का गुण व्याप्त था। अभिनन्दन ग्रंथों तथा पत्रिकाओं के सम्पादन में उनकी क्षमता दिखाई पड़ती है। सबसे महत्वहपूर्ण बात यह है कि पद्मावत तथा कीर्तिलता के पाठों में वैज्ञानिक मानदण्डों के आधार पर सशोंधन करके ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया। डॉ. वासुदेव शरग अग्रवाल ने अपने अनुवाद कृत्यों के माध्यम से हिन्दी की—ऐतिहासिक—पुरातात्विक शब्दावली का निर्माण किया। कला, पुरातत्व, इतिहास तथा साहित्य का एक समान ज्ञाता डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुवाद हिन्दी में दिशा-दर्शक का कार्य करते हैं।

अब तक की चर्चा से स्पष्ट होता है कि डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व के धनी थे। उनका साहित्यिक व्यक्तित्व कला और संस्कृति के प्रौढ़ लेखक के रूप में प्रधान रहा है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का कृतित्व में भारतीय आकृति की धड़कन मिलती है। "डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल की बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने कला, इतिहास और साहित्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित करते हुए ऐतिहासिक विषय सामग्री को कला के माध्यम से हिन्दी में समझाने का प्रयत्न किया। कला की आँख से साहित्य तथा साहित्य की आँख से कला को देखने का अनूठा सन्देश उनके साहित्य में मुखरित होता है।"[४] 'पद्मावत' और 'कीर्तिलता' की संजीवनी व्याख्या में इतिहास, पुरातत्व और कला के ज्ञान के आधार पर शब्दों की ऐतिहासिक व्याख्या करना इसका प्रमाण है। डॉ. शिवपूजन सहाय ने डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल का महत्व बताते हुए कहा कि "भारतीय वाड्मय और पुरातत्व के अनुशीलन परिशीलन में डॉ. अग्रवाल ने जैसी विमल-दुष्टि पाई है। वैसी हिन्दी संसार में कहीं आँख पर नहीं चढ़ती है।"[५] वस्तुत: अपने व्यापक सन्दर्भ में डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल साहित्य और कला मर्म के एक दार्शनिक व्याख्याता और आचार्य थे। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल की जन्मशती के अवसर पर उनके कृत्यों के महत्व का उजागर करना भारतीय कला-संस्कृति तथा साहित्य की समृद्ध परम्परा को याद करना है।

अन्त में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का हिन्दी के सम्बन्ध में वक्तव्य को उद्धृत करना उचित होगा—"मातृ भाषा हिन्दी की स्वल्प सेवा हुई है, इसके लिए हिन्दी जगत निरन्तर मेरा अभिनन्दन कर रहा है। इसका अनुमान मुझे उन पत्रों के रूप में प्राप्त होता रहता है, जो प्रेमी पाठक मुझको लिखते हैं। हिन्दी से जो मैंने पाया है, वह कुबेर का भंडार है और उससे आत्म तृप्त हूँ।"[६]



३४/६ए, कटरा रोड
इलाहाबाद- २११००२

सन्दर्भ

(१) डॉ विजयेन्द्र स्नातक —'हिन्दी साहित्य का वृहद्-इतिहास' प्रधान सम्पादक: डॉ. हरवंश लाल शर्मा, पृ० ३७३
(२) 'भारतीय कलाविद्' —से उद्धृत, पृष्ठ ९७ (ले. जगदीश चतुर्वेदी)
(३) वही,
(४) 'वासुदेवशरण अग्रवाल: व्यक्तित्व एवं कृतित्व'' से उद्धृत पृष्ठ ३२५ (ले. डॉ. नरेश कुमार)
(५) द्रष्टव्य : शिवपूजन सहाय द्वारा लिखित वक्तव्य , डॉ० अग्रवाल, हर्ष— एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ २
(६) 'भारतीय कलाविद' से उद्धृत, पृष्ठ ९८



दो पत्र, जिनमें उनकी आत्म-कथा का सार है

(पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम–पत्र
काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय, ९-६-१९६६)

प्रिय श्री चतुर्वेदी जी,

एक ही डाक से आपके दो पत्र मिले। ३-६-६६ का फीरोजाबाद से, जिसमें आपने लिखा कि 'पृथिवीपुत्र' की एक प्रति आपको प्रिंसिपल गर्ग से मिल गई। दूसरा पत्र ७-६-६६ का नई दिल्ली, से, जिसमें आपने लिखा है की 'पृथिवीपुत्र' की दो प्रतियाँ आपने मास्को भेजने के लिए नई दिल्ली की सोवियत एम्बेसी को दे दी हैं। इससे अनुमान होता है कि मेरे प्रकाशक 'रामप्रसाद एन्ड सन्स' ने पुस्तक की पाँच प्रतियाँ आपके पास भिजवा दी हैं।

मेरा जन्म १९०४ में मेरठ जिले के खेड़ा नामक गाँव में हुआ। मेरे पितामह ठेठ गाँव के व्यक्ति थे। उनकी शिक्षा लगभग नहीं के बराबर थी। थोड़ी हिन्दी पढ़ लेते थे और अपना हिसाब-किताब मुड़िया में लिखा करते थे। पर वह अत्यन्त प्रखर बुद्धि के पुरुष थे। सत्य और न्याय में उनकी बड़ी निष्ठा थी। सन् ४० तक लगभग दो मास प्रतिवर्ष मैं उनके पास रहा करता था। वह शरीर से लम्बे-चौड़े और हृष्ट-पुष्ट थे। वह असपास के दस-बीस गाँवों में बेताज के बादशाह थे। उनके चरित्र सम्बन्धी गुणों का मुझ पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा।

जीवन में उनसे बहुत-कुछ सीखा। जब मैं ६ वर्ष का था, मेरी माता का देहान्त हो गया। मेरा लालन-पालन दादी ने किया। वह जनपदीय गुणों की मूर्त आत्मा थीं। कुटुम्ब की निस्वार्थ सेवा उनका जीवनव्रत था। वह न गिनती गिन सकती थीं और न रुपये पैसे रख सकती थीं। वैदिक पुरन्ध्रि या पोथिन् शब्द उनमें सच्चे अर्थो में घटित होता था। गाँव का सारा मुहल्ला उन्हें अपनी पुरखिन मानता था। वह घर भर में मुझे सबसे अधिक स्नेह करती थीं, मेरी सगी माँ वह ही थी। भारतीय संस्कृति के अनेक छिपे हुए मातृगुण मैंने लगभग ४० वर्षो तक उनमें देखें।

मेरी शिक्षा का आरम्भ देहाती मदर्से में हुआ। अपने पितामाह की कुशाग्र बुद्धि और उत्तम स्मृति मुझे विरासत में मिली। मेरे पिताजी ५ भाई थे। घर में कुछ अंग्रेजी पढ़ने का संयोग उन्हें ही मिला। जब वह सन् १९१२ में लखनऊ नौकरी और व्यापार के सिलसिले से गए, तो मेरी शिक्षा का क्रम ठीक से चल निकला। हमारे देश में जितनी शिक्षा कोई

पा सकता है, वह सब पिताजी ने मेरे लिए सुलभ कर दी। हाईस्कूल, इन्टर, बी०ए०, एम०ए, पी-एच०डी० , डी०लिट्० तक की सीढ़ियाँ मैंने पार कर लीं।

मेरे पितामह गाँव के किसान थे। उन्होंने बहुत वर्षो तक किसानी की थी। उनके मुकाबिले में १०-५ गाँवों का कोई किसान ठहरता न था। आगे चलकर वह लेन-देन और जमींदारी का काम करने लगे। वह ठेठ पृथिवीपुत्र थे। जब हम उन्हें लखनऊ ले आते, तो वह ५-७ दिन में ही उखड़े हुए जान पड़ते और अपने ग्रामजीवन के लिए, भटक जाते थे। वह प्रात: काल ४ बजे उठ जाते थे और अपनी जमींदारी में कई मील का चक्कर लगाते थे। मैं भी उनके साथ जाया करता था। तीसरे पहर वह अपनी टुकड़िया में बैठकर चौधरी, पण्डित, मुकद्दम, नंबरदार और अन्य गाँव के मित्रों को भागवत की कथा सुनाया करते थे। वह सच्चे सनातनधर्मी थे। इस साँचे के लोग इस देश में कई सौ पीढ़ियों से होते आए हैं। वह दोपहर को स्नान के बाद विष्णुसहस्रनाम का पाठ करते, सायंकाल को गाँव से बाहर शिव-मंन्दिर में शिव के दर्शन करके और घृतदीप जलाकर तब भोजन करते थे। मैं भी उनके साथ जाया करता था। कुछ ही लोग गाँव में ऐसे पुरखे होते हैं, जो पुरानी बातों को मानते हैं।

मुझे कई तरह के संस्कार अपने बाबा से और अपने प्रारम्भिक गाँव के जीवन से मिले। महाभारत, भागवत और रामायण अपने इन महान ग्रन्थों का परिचय पाना और पढ़ना मैंने उन्हीं से सीखा। अभी तक मैंने महाभारत के २४००० श्लोकों पर एक सांस्कृतिक व्याख्या समाप्त की है। उसका नाम ''भारत सावित्री'' है और वह लगभग ८०० पृष्ठों के तीन खण्ड़ों में समाप्त हुई है। १८ पुराणों की सांस्कृतिक और धार्मिक व्याख्या लिखने का भी मेरा संकल्प है। उनमे से चार पुराणों पर अब तक लिख चुका हूँ। यदि रूसी जनता हमारे मस्तिष्क और हृदय को देखना चाहती है, तो उसे पुराणों के चार लाख श्लोकों का साहित्य देखना चाहिए।

सन् १९४० में मेरे मन में जनपदीय आन्दोलन का विस्फोट हुआ।उसकी कहानी 'मधुकर' और 'लोकवार्ता' से आपको ज्ञात है। अब यह आन्दोलन अपने देश की भाषाओं में ठहर गया है। सुनता हूँ कि रूस की जनपदीय सामग्री (परिमाण में) १६ लाख श्लोकों के बराबर है। अपने देश में भी इससे कम नहीं है। रूसी विद्धानों को न्योता है कि यहाँ आएं और काम करें। रूस और भारत के सम्पर्क का 'लोकवार्ता' द्वारा एक नया मोर्चा खुल सकेगा। जनता को इसमें पहल करना चाहिए। आपकी यात्रा सकुशल हुई होगी। महाशय गोर्की के देश को मेरा नमस्कार कहिएगा।

भवदीय

वासुदेवशरण

(२)

का० हि० वि० वि०
९-६-६६

प्रिय श्री चतुर्वेदी जी,

पहला पत्र अभी लिखकर इच्छा हुई कि दूसरे पत्र में भी अपनी जीवन-कहानी कहता जाउँ। ऐसा सुखकर न्यौता अभी तक किसी ने नहीं दिया था, पर मैं आपका यजमान हूँ, इसलिए पूरी मात्रा मे ब्रह्मभोज कराने से ही आप छकेंगे!

अब अपने साहित्यक शरीर का कुछ परिचय दे डालूँ। लगभग सन् १९१५ में मेरी रुचि संस्कृत-विद्या की ओर हुई। मेरे पिताजी का परिचय पं० जगन्नाथ जी से हो गया। वह अवध में प्रतापगढ़ जिले के सात्विक ब्राह्मण है। मैं इधर हाईस्कूल भी न कर पाया था कि पिताजी ने मुझे पंडितजी को सौंप दिया। यह पूर्वजन्म का संयोग था। पंडितजी ने मुझे पुराने ढंग की संस्कृत-विद्या में डाल दिया। वह मेरे गुरू ८८ वर्ष के है। मेरे लिए ज्ञान का नया क्षेत्र खुल गया। संस्कृत पढ़ते हुए मैं बहुत दूर निकल गया। पण्डितजी की कृपा से मेरा परिचय पाणिनि के महान ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' से हो गया। पाणिनि का ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' भारतीय जनपदीय जीवन का दर्पण है। १९२९ में जब मैंने प्राचीन इतिहास में एम०ए० कर लिया, तो मेरे गुरू डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने आग्रह के साथ मुझे 'अष्टाध्यायी' विषय पर ही शोध -कार्य करने को कहा, क्योंकि वह जानते थे कि मुझमें उसकी विशेष योग्यता थी। मैंने बारह वर्ष तक उस विषय पर कार्य किया। १९४१ में मेरा ग्रन्थ 'इन्डिया एज नोन टू पाणिनि' समाप्त हो गया और मुझे पी-एच०डी० उपाधि मिली। फिर १९४६ में उसी ग्रन्थ के परिवर्तित रूप पर मैं डी० लिट० की उपाधि के योग्य समझा गया। ७ वर्ष,बाद १९५३ में वह ग्रंथ पहली बार छपा और तब सारे विश्व में जहां तक संस्कृत विद्या पढ़ी जाती है, मुझे बहुत यश प्राप्त हुआ। देश और विदेश में उस ग्रन्थ के कारण मेरा यश फैल गया। आज तक विद्वान सम्मान के साथ ग्रन्थ को पढ़ते हैं। इसका हिन्दी अनुवाद भी मैंने स्वयं ही किया। पाणिनि व्याकरण के विद्वान तो थे ही, किन्तु वह विलक्षण जनपदीय सहानुभूति के व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी भूमि को निकट से जाना और प्यार किया। घर के भीतर और बाहर के जीवन का सूक्ष्य वर्णन उनके ग्रन्थ में है। मेरा जन्म गाँव में हुआ था। इसलिए मैं उसकी सच्ची व्याख्या कर सका।

यहाँ पर मैं कह दूँ कि मेरा मन कुछ ऐसा है कि बहुत-से विषयों में रुचि होती गई। जैसे किसी घर में बहुत-से द्वार और खिड़कियाँ हों, ऐसा ही कुछ मेरा मन है। उसमें पचासों विषय भरे हुए है। वह मेरा अक्षय भंडार है। १९३१ में एम०ए० करने के दो वर्ष बाद ही मुझे मथुरा के पुरातत्व-संग्रहालय का अध्यक्ष चुन लिया गया। वहां मैनें भारतीय कला और मूर्तिशास्त्र का अध्ययन किया। फिर १९४० में मैं लखनऊ संग्रहालय का अध्यक्ष हो गया। वहाँ से १९४६ के आरम्भ में नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय का अध्यक्ष-पद मुझे

मिला। फिर वहाँ से १९५२ के अन्त में हिन्दू-विश्वविद्यालय के कला-विभाग का अध्यक्ष होकर यहाँ आ गया, और तब से आज तक यहीं हूँ। मैं स्थान बदलना नहीं चाहता। अपनी रुचि के अनुकूल कार्य चाहता हूँ । संस्कृत-विद्या और भारतीय कला इन दो विषयों से जो मेरा परिचय हुआ, वह दिन-प्रति-दिन गाढ़ा होता गया। मैंने सोचा कि इन दो शास्त्रों को निकट लाना चाहिए। मैंने संस्कृत-साहित्य की सहायता से कला और पुरातत्त्व -सम्बन्धी सहस्त्रों शब्दों का उद्धार किया। यूनानी कला के लिए ही कुछ ऐसा हुआ था। यह हमारा कार्य उससे कम महत्व का नहीं है। उसका कुछ नमूना मेरी लिखी पुस्तक 'इन्डियन आर्ट (भाग-१)' में है, जो अभी छपी है। यदि रूसी विद्वानों को 'इन्डियन आर्ट' पढ़ना हो, तो वे मेरी उस आंख से उसे पढ़े। जैसा मेरा स्वभाव है, मैंने भारतीय शब्दों में अपनी कला की कहानी कही है। यदि मैं जीवित रहा, तो इस कथा को और आगे ले चलूँगा। अब मुझे भारतीय कला का अध्ययन करते हुए ३५ वर्ष हो गए हैं और मुझे इसका विश्वास है कि जो दृष्टिकोण मेरी समझ में आया, वही ठीक है। पश्चिम के सब विद्वानों को एक दिन उसी बिन्दु पर आना होगा। जनपदीय दृष्टिकोण, भारतीय कला, संस्कृत साहित्य इन तीन विषयों के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति के कितने ही विषय मेरे मन में भरते चले गए। उन्हीं में भारतीय भूगोल, पुराण साहित्य और वैदिक साहित्य की ओर मेरा मन सन् २० से ही खिंचता था, पर विशेष खिंचाव पिछले सात वर्षों में हुआ है। जब से मैंने दीर्घतमस ऋषि के अस्यवामीय सूत्र की व्याख्या लिखी, तब से मेरा विश्वास हो गया है कि वेद विद्या सृष्टिविद्या है और उसके सदृश ऊँची अन्य कोई विद्या नहीं है। प्राणविद्या या जीवनीशक्ति की विद्या ही वेद है। यही सनातनी योगविद्या या प्राणविद्या है। पर मेरी कही हुई बात को लोग अभी समझ नहीं पा रहे हैं। इस विषय पर मैंने लगभग ६ ग्रंथ लिखे हैं। यदि मैं यूरोपीय विद्वानों के सामने अपनी बात रख सकता, तो वे यह जान लेते कि मानव के नित्य जीवन के लिय जो तत्व वेदों में कहे गए हैं, वे सबसे अधिक मूल्यवान है। मुझे इस बात का संतोष है कि मेरे जीवन का सायंकाल वेदविद्या के सम्पर्क से बीत रहा है। आप नाम से चतुर्वेदी है, पर वेद के अक्षर से कभी भेंट नहीं की। अत: मेरी बात आपको शेखचिल्ली या ऊलजलूल कहने वाले सागर-पण्डित जैसी जान पड़ेगी।

भवदीय
वासुदेवशरण

डॉ. अग्रवाल के निधनोपरान्त उपर्युक्त पत्र प्रकाशित करते समय चतुर्वेदी जी ने लिखा था:—

"स्वर्गीय बन्धुवर डॉक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल ने जो दो अन्तिम पत्र मुझे लिखे थे वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनमे उन्होंने अपने विषय में कुछ ऐसी बातें बतलायी थीं।, जो उनके चरित्र तथा उनकी आकांक्षाओं पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। ये दोनों पत्र मुझे अपनी रूस-यात्रा में मास्को में मिले थे। स्व. अग्रवाल जी से मेरा २५ वर्ष से सम्बन्ध था और उनकी प्रेरणा से मैनें 'मधुकर' का जनपदीय विशेषांक भी निकाला था और आगे चलकर अन्तर्जनपदीय परिषद भी कायम करायी थी। निस्सन्देह उनका आकस्मिक निधन केवल हिन्दी जगत के लिए भी भयंकर दुर्घटना है।

क्या ही अच्छा हो, यदि हम उस महान विद्वान की स्मृतिरक्षा के लिए कोई ठोस कार्य करें। इन पत्रों में अग्रवाल जी ने अपनी जो आकांक्षएं प्रकट की हैं, उनकी पूर्ति होने से ही उनकी स्वर्गीय आत्मा को सन्तोष होगा। उसके सिवाय उनके विषय में एक विस्मृत स्मृति-ग्रन्थ भी निकलना चाहिए।



प्रमुख प्रकाशित कृतियों की तालिका
संकलित

वेद-उपनिषद्, पुराण, महाभारत आदि विषयक:

उरु-ज्योति– (आध्यात्मिक निबन्ध) १९३७ ई० 'श्री कन्हैयालाल वैदिक प्रकाशन-निधि', १९५३ ई०, 'श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर।'

कल्पवृक्ष– (निबन्ध -संग्रह) इस संग्रह के कुछ लेख मूलत: (श्री कृष्णवल्लभ द्विवेदी द्वारा संपादित) 'हिन्दी विश्व-भारती' ज्ञानकोश के लिए लिखे गए थे। १९५३ ई०, 'सस्ता-साहित्य-मंडल, दिल्ली।'

वेदविद्या– (वैदिक निबन्ध) इसके भी अधिकतर निबन्ध मूलत: 'हिन्दी विश्व-भारती' के लिए लिखे थे। १९५९ ई०, 'राम प्रसाद एण्ड सन्स, आगरा।'

भारत-सावित्री– (महाभारत की सांस्कृतिक मीमांसा) प्रथम खंड १९५०ई०, द्वितीय खंड १९६४ ई०, तृतीय खंड १०६७ ई०, 'सस्ता-साहित्य-मंडल, दिल्ली।'

मार्कण्डेय-पुराग : एक सांस्कृतिक अध्ययन– १९६१ ई०, 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

स्पार्क्स फ्रांम द वैदिक फायर – (वेदविद्या संबंधी निबन्ध) १९६२ ई०, स्कूल ऑफ वैदिक स्टडीज, वाराणसी।' **(अंग्रेजी में)**

पृथ्वी -सूक्त :: एक अध्ययन– १९६३ई०, 'काशिराज ट्रस्ट, वाराणसी।' **(अंग्रेजी में)**

मत्स्य-पुराण, ए स्टडी– १९६३ ई०,'काशिराज ट्रस्ट, वाराणसी।' **(अंग्रेजी में)**

हिम ऑफ क्रिएशन– (नासदीय सूक्त) १९६३ ई०,. 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी। **(अंग्रेजी में)**

सोलर सिम्बोलिज्म ऑफ द बोअर– १९६३ ई० 'पृथ्वी-प्रकाश, वाराणसी।' **(अंग्रेजी में)**

विजन इन लांग डार्कनेस– ('अस्यवामीय सूक्त' की व्याख्या) १९६३ ई०, 'वेद अकादमी, वाराणसी।' **(अंग्रेजी में)**

वैदिक लेक्चर्स– (वेदविद्या विषयक प्रवचन) १९६३ ई० 'स्कूल ऑफ वैदिक स्टडीज, बनारस-हिन्दू-युनिवर्सिटी, वाराणसी।' **(अंग्रेजी में)**

देवी-माहात्म्य– (ग्लोरिफिकेशन ऑफ द ग्रेट गॉडेस) १९६३ ई० 'आल इंडिया काशिराज ट्रस्ट, रामनगर, वाराणसी।' **(अंग्रेजी में)**

वामन पुराण, ए स्टडी– १९६४ ई०, 'पृथ्वी-प्रकाशन,वाराणसी।' **(अंग्रेजी मे)**

छंदस्वती वाक – १९६४ ई० 'बनारस-हिन्दू-यूयनिवर्सिटी, वाराणसी।'

गीता-नवनीत– (सानुवाद मूल पाठ सहित गीता की व्याख्या) १९६४ ई०,'गोपीनाथ संपत्ति, लखनऊ।'

वेदरश्मि– ('स्पार्क्स फ्रॉम द वेदिक फायर' का हिन्दी अनुवाद) १९६४ ई०,'स्वाध्याय-मंडल, पारडी, सूरत।

उपनिषद- नवनीत – (१७ उपनिषदों का रहस्य-दर्शन) १९६६ ई०, 'सस्तु-साहित्यवर्द्धक कार्यालय, अहमदाबाद।' **(गुजराती अनुवाद)**

शिव महादेव, द ग्रेट गॉड– १९६६ ई० 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी।' **(अंग्रेजी मे)**

इंडिया एज डिस्क्राइब्ड बाय मनु– १९७० ई० 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी।' **(अंग्रेजी मे)**

काव्य, साहित्य, इतिहास, व्याकरण से संबंधित :

हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन– १९५३ ई०, 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद,पटना।'

मेघदूत : एक अध्ययन– १९५३ ई० 'राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।'

इंडिया एज नोन टू पाणिनि– १९५३ ई० लखनऊ-यूनिवर्सिटी; १९६३ ई०, 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी। **(अंग्रेजी मे)**

पद्मावत : संजीवनी व्याख्या– १९५५ ई०, 'साहित्य-सदन, चिरगाँव।'

पाणिनिकालीन भारतवर्ष– ('इंडिया एज नोन टू पाणिनि' का हिन्दी रूपान्तर) १९५५ ई०,'मोती लाल बनारसीदास, वाराणसी।'

कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन– १९५७ ई०, 'चौखंभा विद्याभवन, चौक, वाराणसी।'

कीर्तिलता : संजीवनी व्याख्या– १९६२ ई० 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी।' **(अंग्रेजी में)**

गोत्राज इन पाणिनि – १९६३ ई० 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी।' **(अंग्रेजी में)**

द डीड्स ऑफ हर्ष– १९६८ ई० 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी। **(अंग्रेजी में)**

: पुरातत्त्व एवं कला-मीमासंपरक :

हैण्डबुक टू द स्कल्पचर्स इन द कर्जन म्यूजियम ऑफ आर्कियालॉजी, मथुरा– १९३९ ई० 'यू०पी० गवर्नमेण्ट।' (अंग्रेजी में)

मथुरा म्यूजियम कैटलॉग (चार खंड) 'यू०पी० हिस्टारिकल सोसायटी।'

ए गाइड टू द प्राविंशियल म्यूजियम, लखनऊ – (अंग्रेजी मे)

गुप्ता आर्ट– १९४७ ई०, 'यू०पी० हिस्टारिकल सोसायटी।' **(अंग्रेजी मे)**

इंडियन आर्ट थ्रू द एजेज– (अज्ञातनामा प्रकाशित) 'पब्लिकेशन्स डिविजन, दिल्ली।' **(अंग्रेजी में)**

एक्जीबीशन ऑफ इंडियन आर्ट (कैटलॉग)– १९४८ ई०, 'डिपार्टमेण्ट ऑफ आर्कियालॉजी, नई दिल्ली।' **(अंग्रेजी में)**

एक्जीबीशन आर्फ इडियन आर्ट, एल्बम– (अज्ञातानामा प्रकाशित) १९४८ ई०, 'डिपार्टमेंट ऑफ आर्कियालॉजी, दिल्ली।' **(अंग्रेजी में)**

भारतीय कला का सिंहावलोकन– (अज्ञातानामा प्रकाशित) १९४८ ई०, 'डिपार्टमेंट ऑफ आर्कियालॉजी, दिल्ली।'

कला और संस्कृति– १९५२ ई० 'साहित्य-भावन लि०, इलाहाबाद।'

सारनाथ (पथप्रदर्शिका)– १९५६ ई०,'डिपार्टमेंट ऑफ आर्कियालॉजी, दिल्ली।' **(अंग्रेजी तथा हिन्दी में)**

इंडियन मिनियेचर्स, एन् एल्बम- १९६१ ई०, 'डिपार्टमेंट ऑफ आर्कियालॉजी, दिल्ली।' **(अंग्रेजी मे)**

हेरिटेज ऑफ इंडियन आर्ट, एन एल्बम– १९६४ ई० 'पब्लिकेशन्स डिविजन, दिल्ली। **(अंगेजी मे)**

चक्रध्वज ऑर द व्हील फ्लेग ऑफ इंडिया– १९६४ ई० 'पृथ्वी-प्रकाशन, दिल्ली।' **(अंग्रेजी में)**

स्टडीज इन इंडियन आर्ट– १९६५ ई० 'विश्वविद्यालय-प्रकाशन, वाराणसी। **(अंग्रेजी में)**

मास्टरपीसेज ऑफ मथुरा स्कल्पचर– १९६५ ई० 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी।' **(अंगेजी में)**

इंडियन आर्ट (भाग १) – १९६५ ई० 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी।' **(अंगेजी में)**

मथुरा-कला– १९६५ ई० 'गुजरात-विद्या-सभा, अहमदाबाद।'

इवोल्यूशन ऑफ द हिन्दू टेम्पल एण्ड अदर एसेज– १९६६ ई० 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी।' **(अंगेजी में)**

भारतीय कला– १९६६ ई० 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी।'

चक्रध्वज– १९६६ ई० 'नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।' **(हिन्दी)**

: फुटकर रचनाएँ :

एक्लू टू द अंडरस्टेण्डिग ऑफ द आर्य समाज– १९२७ ई० 'मंत्री, आर्य समाज, बनारस-हिन्दू-यूनिर्वार्सिटी। **(अंग्रेजी में)**

मामृभूमि– १९३५ ई० 'कमला पब्लिशिंग हाउस, मेरठ।'

पृथ्वीपुत्र – (लोक-संस्कृति विषयक निबन्ध) १९४९ ई०, 'सस्ता-साहित्य-मंडल' दिल्ली, द्वितीय संस्करण १९६० ई० रामप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा।'

माता भूमि– १९५३ ई० 'चेतना प्रकाशन, हैदराबाद।

भारत की मौलिक एकता– १९५४ ई० 'भारती-भंडार, इलाहाबाद।

सुनहले हंस– (कहानी-संग्रह) १९५४ ई० 'विश्वविद्यालय-प्रकाशन, वाराणसी।'

पाणिनि-परिचय– १९६५ ई०, मध्य प्रदेश शासन साहित्य-परिषद् भोपाल।'

वाग्धारा– (निबन्ध-संग्रह) १९६६ ई०, 'भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी।'

प्राचीन भारतीय लोकधर्म– (जवेरचंद मेघाणी व्याख्यानमाला) १९६४ ई०, 'ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद।'

एंशिएण्ट इंडियन फोक कल्टस– १९६९ ई० (प्राचीन भारतीय लोकधर्म, का अनुवाद), 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी।' **(अंग्रेजी में)**

(इनके अतिरिक्त 'हर्षचरित : कथासार :' रावणवध : कथासार'; 'बुद्ध चरित: कथासार; 'सौन्दरनन्द : कथासार' नामक कुछ लघु बालोपयोगी पुस्तकें भी उन्होंने लिखी थीं, जो सस्ता-साहित्य -मण्डल दिल्ली, द्वारा प्रकाशित की गई थीं। उधर सुरदासकृत 'नलदमन', पं० मधुसूदन ओझाकृत 'बह्मसिद्धान्त' एवं बह्मविनय' तथा 'शृंगारहाट' (या चतुर्भाणि) नामक प्रकाशनों और डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, कन्हैयालाल पोद्दार, नाथूराम प्रेमी, मैथिलीशरण गुप्त आदि को समर्पित अभिनन्दन-ग्रंथों के संपादन में भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया था।



❑ आचार्य चन्द्रबली पांडे

आचार्य चन्द्रबली पांडे एवं उनका 'तसव्वुफ अथवा सूफ़ीमत'

● डॉ. इन्द्र पाल सिंह

आचार्य चन्द्रबली पांडे की कुल साहित्यिक कृतियों का अध्ययन प्रस्तुत कर उनकी प्रतिभा और मनीषा का मूल्यांकन करना, यद्यपि असाध्य नहीं, तो भी परिश्रमसाध्य तो अवश्य हैं। आचार्य जी की प्रतिभा बहुमुखी है। भाषा, विचार, सम्पदान, साहित्यिक समीक्षण, गवेषणादि, विविध क्षेत्रों की ओर उनकी पैनी दृष्टि गई है। और जिधर भी गई है विषय के मूल तक गई है। उनके सम्पूर्ण कृतित्व की समीक्षा, सम्प्रति, हमारा उद्देश्य नहीं है। प्रस्तुत लेख में हम उनके 'तसव्वुफ और सूफ़ीमत' पर अपने विचार व्यक्त करेंगे।

'तसव्वुफ और सूफ़ीमत' आचार्य जी की गवेषणात्मक और विचारात्मक प्रतिभा का अमर प्रमाण है। उनकी विनयशीलता, विनय-प्रच्छन्न गर्व, अजस्र किन्तु निष्काम परिश्रम-परता आदि मानवीय चारित्रिक गुणों से लेकर उनका प्रखर सूक्ष्मेक्षण साधिकार-समीक्षण वृहद् अध्ययन, स्पष्ट और अच्युत विषय-स्थापन, मनन और चिन्तनादि अनेकानेक प्रतिभायें, प्रस्तुत ग्रन्थ में सम्मिलित हो कर स्फुट हुई हैं। ऐसा लगता है कि प्रारंभिक समर्पण से लेकर परिशिष्ट तक के प्रत्येक वाक्य में उनके व्यक्तित्व की कोई-न-कोई परिभाषा लिपटी पड़ी है।

सर्वप्रथम हम आचार्य जी के समर्पण-वाक्य में सन्निहित तथा ध्वनित संकल्प को लेते हैं वे लिखते हैं "आचार्य शुक्ल जी के प्रसाद से कुलपति मालवीय जी की पूजा में उन्हीं के तुच्छ अन्तेवासी की समर्थ हिन्दी संसार को भेंट।" 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा प्रातः स्मरणीय महामना मदन मोहन मालवीय के प्रति अपार श्रद्धा ध्वनित होती है इस संकल्प-वाक्य में। "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्द्धः स एव सः"— उपनिषद वाक्य के अनुसार 'मनुष्य श्रद्धामय है, जो जिस पर श्रद्धा करता है वह वही हो जाता है। 'जायसी-ग्रन्थावली' तथा 'भ्रमर-गीत' की भूमिकाओं, 'गोस्वामी तुलसीदास' अथवा, 'चिन्तामणि' के निबन्धों में हम आचार्य शुक्ल की जिस प्रखर उपेक्षा, सूक्ष्मक्षिका वृत्ति तथा गंभीर चिन्तन-शैली, जिस अनुशीलन-परिशीलन, आडम्बरहीन किंवा समर्थ अभिव्यक्ति का दर्शन करते हैं, ठीक वे ही तत्व गुण-परिणाम की प्रक्रिया से मानो डॉ० पांडे में विकसित हो गये हैं। महामना मालवीय का प्रकाण्ड पांडित्य और ओजस्विनी, अमृतवर्षिणी वाग्मिता मानों पांडे जी की लेखनी में उतर आई हो। पांडे जी के श्रद्धालु अन्तःकरण ने उक्त श्रद्धेयों की आत्माओं को उनके सारे धर्मों के साथ मानो प्रपानक की भाँति पी लिया है।

उक्त ग्रन्थ को पांडेजी ने ग्यारह प्रकरणों तथा दो परिशिष्टों में विभाजित किया है। ''सूफ़ीज्म' व 'सूफ़ीमत' को लेकर पूर्व और पश्चिम के विद्वानों ने बहुत कुछ ननु-नच, क्षुण्ण-क्षोद उपस्थित किया है किन्तु विषय का जितना प्रशस्त और सर्वांशत: परिपूर्ण प्रतिपादन पांडे जी कर गये हैं उतना और कोई नहीं। 'तसव्वुफ' शब्द की व्याख्या, सूफ़ीमत के उद्‌भव, विकास और परिपाक, सूफ़ियों की आस्था, मत के प्रतिपादन अथवा प्रिय की प्राप्ति के साधन, सूफ़ी-साहित्य आदि से सम्बद्ध प्रकरण पांडे जी के शोधात्मक प्रयास हैं अैर प्रात: इतिवृत्तात्मक हैं। किन्तु इतिवृत्तों की नीरसता का परिहार पांडे जी ने बड़ा पटुता से कर डाला है। प्रत्येक प्रकरण के प्रारम्भ में और यथावसर मध्यान्त में भी, वे बड़ी ही काव्यात्मक शैली में शीर्षकों की स्वतन्त्र व्याख्या करते चले हैं। काव्यात्मकता, आलंकारिकता, लाक्षणिकता और विनोदमयता का पुट दे-देकर उन्होंने इतिवृत्त-जन्य रूक्षता को सरस बना दिया है। ''साधन'' शीर्षक पाँचवे प्रकरण में पांडे जी ने तसव्वुफ अर्थात् सूफीमत के उन साधनों का वर्णन किया है जिनका उसने प्रचारार्थ सहारा लिया। ये साधन हैं, प्रेम, सुरा, संगीत, रसायन और योगादि। इस संबंध में इस्लाम के कार्यकाण्ड-सलात, जकात, सौम और हज्ज आदि का विवरण उन्होंने इस प्रकार दिया है— ''अच्छा, तो उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि जीवन में जो काम एक बार करना हो (हज्ज), वर्ष में जिसका आश्रय एक मास लेना हो (रमजान, सौम, रोजा), कुछ हो जाने पर जिसका प्रबन्ध करना हो (जकात), दिन में पाँच बेर के लिये जिसका विधान हो (सलात, नमाज) यह किसी प्रेमी वा वियोगी के काम का नहीं हो सकता।'' विवरण का क्रम इसी प्रकार विस्तृत होता चलता है:— ''परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, हृदय को ऐसे परम हृदय की और व्यक्ति को ऐसे परम व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है जिसके संसर्ग में वह यहाँ तक आना चाहता है कि उसको किसी प्रकार का भी मध्यस्थ खलने लगता है। उस समय दृष्टि में प्रियतम, सृष्टि मे प्रियतम, कण-कण में प्रियतम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जाता।''

तसव्वुफ वा सूफ़ीमत के उद्‌भव के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद रहा है। इस्लाम धर्म के मानने वालों ने उसे इस्लाम का प्रसाद माना। निकल्सन तथा ब्राउन सदृश मर्मज्ञ और सुविज्ञ विद्वानों ने इसका मूल स्रोत कुरान तथा हदीस में माना है। मसीहियों ने इसे मसीही सिद्ध करने का प्रयत्न किया। कुछ मनीषियों ने इसका उद्‌भव नास्तिक मानी वा अफलातूनी मतों से बताया। सारांश यह कि तसव्वुफ के उद्‌भव के सम्बन्ध में, डॉ० पांडे के पूर्व, केवल अनुमानों और दुराग्रहपूर्ण तर्कों की ही उद्‌भावना हो सकी थी, किसी सर्वसम्मत और बुद्धिग्राह्य निर्णय की नहीं। आचार्य चन्द्रबली पांडे की गंभीर प्रकृति, अध्ययन और मनन-चिन्तन से परिपुष्ट मनीषा साहित्य के सागर में इस प्रकार का मत्सयाखेट स्वीकार न कर सकी। उन्होंने ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण के आरम्भ में ही निर्भीक हो कर लिखा है— ''सूफीमत के उद्‌भव के संबंध में विद्वानों में गहरा मतभेद है। वह

मतभेद सूफीमत के दार्शनिक पक्ष की गहरी छानबीन का फल नहीं है। मत तो किसी वासना, भावना या धारणा की संरक्षा अथवा उसके उच्छेद के प्रयत्न का परिणाम होता है। अत: जो लोग उसके मर्म से परिचित होना चाहें उन्हें सर्वप्रथम उसके इतिहास पर ध्यान देना चाहिए।'' अपने मतों की स्थापना में लिया गया निकल्सन और ब्राउन प्रभृति पश्चिम के पंडितों का आधार ही इतना दुर्बल और छिन्न-भिन्न था कि उस पर किसी पुष्ट निर्णय का निर्माण किया ही नहीं जा सकता था। पांडेय जी ने शोध-प्रक्रिया का मूल-मंत्र इतिहास के अध्ययन में ही निहित बताया है। वे कहते हैं— ''इतिहास के आधार पर अध्ययन करने से किसी मत का सच्चा स्वरूप अपने शुद्ध और निखरे रूप में प्रकट होता है और उसके उद्‌भव तथा विकास का ठीक-ठीक पता भी चल जाता है।'' इसी आधार पर पांडे जी ने तसव्वुफ का मूल स्रोत 'इसलाम से परे, मुहम्मद साहब से आगे बढ़कर शमी जातियों की भाव-भूमि' से निर्गत बताया है। उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि सूफीमत में स्वीकृत प्रेम और मादनभाव का मूल भी शामी जाति के संस्कारों में ही बद्ध है। स्त्री-पुरूष की सहज, लौकिक रीति को अलौकिक का जामा पहना कर सूफियों ने परम प्रेम का स्वरूप खड़ा किया। शामियों में भी, आर्यों की भांति, देवी-देवताओं को मान्यता दी जाती थी। बाल, कादेश, ईस्तर, प्रभृति देवी-देवताओं के मन्दिरों में भक्तगण अपनी सन्तानों को समर्पित कर देते थे। देवी-देवता तथा उनके मन्दिरों में आये हुये अतिथियों को रति -दान द्वारा संतुष्ट करना इन देवदासों और देव दासियों का परम कर्त्तव्य माना जाता रहा। आगे चलकर यह प्रथा उच्छङ्खल होकर नग्न व्यभिचार में परिणत हो गई। यहोवा जैसे कुछ धर्मप्राण नेताओं ने इस प्रथा का विरोध किया। इससे अन्तर केवल यह पड़ा कि प्रकट, प्रत्यक्ष व्यभिचार अप्रकट, अप्रत्यक्ष प्रियतम के विरह में रूपान्तरित हो गया। रति का आलंबन अब क्षणभंगुर मानव न होकर शाश्वत परम पुरुष हो गया। इश्क मजाजी अब इश्क हकीकी हो गया। इस शाश्वत सत्ता के प्रति मादन-भाव को जीवित रखने के लिये सुरा संगीतादि का भी सहारा लिया जाने लगा। पांडे जी कहते हैं— ''निदान, हम देखते हैं कि वास्तव में सूफियों के प्रेम का उदय उक्त देवदास एवं देवदासियों में हुआ और कर्मकाण्डी नबियों के घोर विरोध के कारण उसको परम प्रेम की पदवी मिली।''

जिन कर्मकाण्डी नबियों ने, यहोबा के सेनानियों ने, इस मादन-भाव का अनुमोदन पाखंड के कारण नहीं किया उनको एक नया रोग इलहाम (दिव्य वाणी) का हो गया। इलहाम की अवस्था में आकर ये नबी (देवदूत) भक्तों, मुरीदों को अल्लाह और रसूल की दिव्य वाणियाँ सुनाने लगे। इलहाम की अवस्था में आने के लिये उल्लास आवश्यक होता था। उल्लास की प्राप्ति साकी के जाम, प्यालों और सुरा की घूँटों से होती थी। सूफियों की 'हाल' वाली दशा का मूल नबियों के इसी इलहाम में छिपा है।

यह कहा जा चुका है कि अवकाश पाकर, पांडे जी, अपने श्रद्धेय आचार्य रामचन्द शुक्ल की भाँति, गम्भीर विषयता का तनाव तथा इतिवृत्त की शुष्कता कम करने के लिये

बीच-बीच में विनोद भी करते चलते हैं। नबियों के रति, आनन्द, उल्लास ओर सुरापानादि का वर्णन करते हुये आप बताते हैं कि उक्त नबी भावावेश में आकर कभी-कभी अपने शरीर पर घाव कर देते थे और "जनता पर प्रकट करते थे कि उन आघातों से उन्हें तनिक भी कष्ट नहीं होता; क्योंकि उन पर देवता की असीम कृपा है।" इस स्थल पर आप लिखते हैं— "आगे चलकर सूफियों ने प्रियतम के घाव को जो फूल समझ लिया उसका मुख्य कारण यही है। देवता के प्रसाद को फूल समझना ही उचित था। हिन्दी कवि बिहारी ने भी सूफियों की देखा-देखी 'सरसई' को कभी सूखने नहीं दिया, खोंट खोंट कर उसे बराबर हरा ही रहने दिया; क्योंकि उनकी नायिका को वह क्षत उसके प्रियतम से प्रसाद के रूप में मिला था जो प्रेम को सदा हरा-भरा रखता था।'

आगे के प्रकरणों में, सूफीमत का पूर्ण बोध कराने के लिये, पांडे जी ने सूफी साहित्य, अध्यात्म आदि पर भी बड़ी गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। अन्त में सूफियों के भविष्य पर भी आपने अपनी साधु सम्मत्ति प्रकट की है। सूफियों की प्रशंसा करते हुए 'भविष्य' नामक प्रकरण में आप लिखते हैं— "बस, जब हम देखते हैं कि इस छल-छंद के युग में लोग अपनी कलुषित वृत्तियों की तृप्ति उके लिये अन्यों का विध्वंस देश, काल और जाति की ओट में गर्व के साथ करते हैं और साथ ही विश्व प्रेम का कीर्तन भी करते जा रहे हैं तब हमारी आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है ओर भुलावे के इस विश्व-प्रेम से हमें सन्तोष नहीं होता। विश्व-प्रेम की वास्तविक सफलता तो सूफियों के उस प्रेम पर अवलंबित है जो मनुष्य की सामान्य वृत्तियों को ऊपर उठा उसे सहज भाव-भूमि पर रख देता है ज़िसका कण-कण हमारा आलंबन है, उस लोभ या कपट-प्रेम पर कदापि नहीं जिसका सम्पादन, प्रेम की ओट में पश्चिम प्रतिदिन करता जा रहा है।"

सूफीमत पर लिखा गया पांडे जी का यह ग्रंथ अपने विषय पर आप्त और प्रमाणिक है। अद्यावधि अस्पृष्ट और अस्पष्ट विषय को हस्तामलक बना कर आपने साहित्य की जो सेवा की है उसका मूल्य न तो आँका जा सकता है और न तो चुकाया ही जा सकता है। साहित्य का यह निष्काम सेवक जीवन भर साहित्य-सेवा का भार ढोता ही चल बसा, संसार ने उसे क्या दिया? भूमिका में उन्होंने लिखा है— 'डासत ही भव-निसा सिरानी, कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो।'



आचार्य चन्द्रबली पांडे: व्यक्तित्व और कृतित्त्व

● श्री महेश चन्द्र गर्ग

मैंने सांकेतित मूर्ति को ध्यान से देखा। कैसा विलक्षण और आकर्षक व्यक्तित्व था। मँझोला कद— कुछ छोटा ही, भरा हुआ बदन, पक्का रंग, बेहिसाब बढ़ी हुई दाढ़ी-मूँछें और उरके जाल से उभर कर निकला हुआ चमकता चेहरा, सटे हुए होंठ, उठी हुई नाक, सुर्ख गहरी और मर्म-भेदी आँखें, दो-तीन हल्की रेखाओं से युक्त प्रशस्त ललाट, इधर-उधर लापरवाही से बिखरे हुए लम्बे ओर रूखे बालों से कठिनाई से ढँका हुआ भारी सर, हाथ से धोकर साफ की हुई मारकीन की धोती और गजी का कुर्त्ता।

सरस्वती और लक्ष्मी का स्वाभाविक वैर प्रसिद्ध है। यह वैर पान्डेजी के जीवन में यथार्थ रूप में चरितार्थ हुआ। वर्ष -दो वर्ष के लिये नहीं, दुनिया में आँखें खोलने से लेकर उन्हें बन्द करने तक वह चुपचाप इस घोर ओर चिर-दारिद्रय को धैर्य और सन्तोषपूर्वक गले लगाये रहे और इस गौरव के साथ कि क्या कहना। उनकी शालीनता की सीमा नहीं थी। कोई श्रद्धा और भक्ति से कुछ कर दे तो इन्कार नहीं था, पर सवाल जीवन में किसी से नहीं किया, उनसे भी नहीं जिनसे अर्थ-प्राप्ति एक लेख़क के नाते उनका प्रत्यक्ष अधिकार था। यहाँ तक कि इस विषय की चर्चा भी उन्हें पसन्द न थी। वे बड़े स्वाभिमानी थे। किसी का मुखापेक्षी होना उन्हें सत्य नहीं था। और यही कारण है कि उन्होंने अपने जीवन को स्वावलम्बी बनाने के लिये, उसके हर सुख को तिलांजलि देकर एक ऐसा मार्ग अंगीकार किया जो उनके विचार स्वातन्त्रता की रक्षा के साथ-साथ उन्हें अर्थ-चिन्ता से यथासाध्य मुक्त रख सका— चाहे दूसरे रूप में वह मृत्यु के लिये खुला निमंत्रण ही क्यों न था।

पान्डेजी के जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो यही था कि जो चाहा वह न मिला और जो न चाहा वह गले पड़ गया। लोग उन्हें 'मुनि' कहते थे, 'साधु' कहते थे, 'शाह साहब' कहते थे। पर, उनके हृदय की पीर किसी ने न जानी। उन्हीं का तो कहना है कि निरी साधुता जीवन के लिये अत्यन्त भयावह है, उससे संकट उपस्थित होता है और आती है जीवन-संग्राम में जटिलता।

'निश्चय ही तुलसीदास ने मानस में चित्रकूट को उतार दिया है ओर उद्धार कर दिया मानव उस संकट से जो अध्यात्म के अतिरेक के कारण जीवन-संग्राम में आता है और स्थिति को और भी जटिल बना देता है।'

—तुलसी-स्मारक की एक योजना।

क्या इससे स्पष्ट नहीं कि उनकी 'साधुता' उनके शील के साथ-साथ उनकी मजबूरी भी थी और थी किसी 'विधि' की विडंबना और 'विधाता' का कुचक्र जो रचा गया था प्रतिष्ठा विश्वविद्यालय के प्रांगण में।

खैर, पान्डे जी के प्रयाग आने-जाने से हिन्दी के प्रचारार्थ एक पत्रिका के प्रकाशन की बात तय हो गई, जिसके फलस्वरूप काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में 'हिन्दी' निकली। 'हिन्दी' विशेष रूप से हैदराबाद की अंजुमन तरक्किए उर्दू से प्रकाशित 'हमारी जबान' के जवाब में थी और पान्डे जी थे उसके सम्पादक।

'हिन्दी' की बात तय हो गई किन्तु यथार्थ में उसके निकलने के पूर्व कुछ राजकीय उपचारों का सम्पन्न होना आवश्यक था— विशेषकर पत्रिका का डिक्लेरेशन और रजिस्ट्रेशन। अत: बनारस लौटकर पान्डेजी कचहरी के चक्कर लगाने लगे। मैंने देखा, वह 'हिन्दी' के सम्पादक क्या, प्रकाशक, संवाददाता यहाँ तक कि चपरासी आदि सभी कुछ थे और वह भी सर्वथा अवैतनिक । हिन्दी को अनेक नामों और रूपों से अपनी उदर-पूर्ति का माध्यम बनाने वाले आज के बहुत-से भंड-भट्टार क्या उनकी नि:स्वार्थ सेवा और त्याग के मर्म को समझ सकेंगे ।

पान्डे जी के पास धन नहीं था, यह सत्य है। किन्तु उनके पास निष्ठा थी, प्रेम था, और सबसे बढ़कर था दृढ़ आत्म-विश्वास जो उन्हें सदैव आगे आने वाले अनेक भयंकर तूफानों में खोने या विचलित होने से बचाए रहा। शुक्ल जी का सन्देश मैंने उन्हें दिया तो गम्भीर होकर बोले— 'श्री शुक्ल जी से कहिएगा कार्य वा साधयामि, शरीर वा पातयामि।' धन्य है, कैसा पुनीत व्रत था और कैसा अपूर्व निश्चय राष्ट्र की वाणी को उस गाढ़े समय में सहारा देने के लिए यदि यह साहसी और दृढ़-संकल्प सेनानी न प्राप्त होता तो उसकी क्या दशा होती यह कौन जानता है।

खैर, 'हिन्दी' निकली और बहुत सुन्दर तथा उपादेय किन्तु उसकी आर्थिक व्यवस्था दृढ़ नहीं थी इसलिए उसके निकलने में प्राय: देर-सवेर हो जाती और कभी-कभी उनका प्रकाशन भी स्थगित करना पड़ता।

राष्ट्रभाषा के क्षेत्र में पान्डे जी द्वारा की गई इन मूल्यवान सेवाओं के कारण बहुत पहले हिन्दी साहित्य सम्मेलन का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हो गया था। राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन पाण्डे जी के लेखन शक्ति और त्यागपूर्ण जीवन से बड़े प्रभावित थे।

सम्मेलन ने हिन्दी के इस महान् लेखक और "सजग प्रहरी" जैसा कि पान्डेय जी अपने आपको कहते थे के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित करना अपना कर्त्तव्य समझा और इसके फलस्वरूप सन् १९४३ में हरिद्वार सम्मेलन में पान्डेय जी राष्ट्र-भाषा-परिषद् के सभापति बनाए गए। सन् १९४७ में वह बम्बई सम्मेलन के साहित्य-परिषद के सभापति हुए और अन्त में सन् १९४९ में हैदराबाद हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति बनकर वह अपनी लौकिक कीर्ति के शिखर पर पहुँच गए।

इस प्रसंग में एक बात उल्लेख और आवश्यक हैं पान्डे जी की हिन्दी-भक्ति पूर्ण उनके हृदय की पुकार नहीं थी और न केवल स्थिति विशेष की देन। वस्तुत: उनके हृदय रूपी आलवाल में इस बीज का वपन एक महापुरुष के द्वारा उसी समय कर दिया गया था जब वह मिशन स्कूल आजमगढ़ में हाई-स्कूल के विद्यार्थी थे। यह महापुरुष थे आजमगढ़ के तत्कालीन सुपरवाइजर कानूनगो श्री दुर्गा प्रसाद जोशी जो बड़े उत्कट हिन्दी-प्रेमी थे और सरकारी कर्मचारी होते हुए भी न्यायालय में हिन्दी के प्रयोग के प्रबल पक्षपाती थे। श्री जोशी जी ने पांडे जी की कुशाग्र बुद्धि और सच्चरित्रता से प्रभावित होकर उन्हें आगे पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया और साथ ही हिन्दी का पक्ष लेकर संघर्ष करने का मंत्र भी उनके कानों में फूँक दिया। अपने ग्रंथ ''राष्ट्र-भाषा पर विचार'' की भूमिका में पांडे जी ने स्पष्ट रूप में उसका उल्लेख किया है।

''उस दिन क्या जानता था कि किसी नागरी-हित के हेतु इतना लोहा लेना पड़ेगा और इस तनिक-सी सीधी बात के लिए इतना तूमार बँधेगा। बात यह थी कि इस जन के परम हितैषी श्री दुर्गा प्रसाद जी जोशी को, जो उस समय अपने तप्पा के कानूनगो थे, कहीं से एक सम्मन मिल गया था जो हिन्दी के कोठे में था किन्तु भरा गया था कचहरी की फारसी लिपि में । पढ़ते-पढ़ते दम निकल गया पर उसका भेद न खुला। जोशी जी ने इसके सम्बन्ध में जो कुछ कहा उसको कहने की आवश्यकता नहीं। हमारी सरकार नागरी को अपनाती और उसका व्यवहार जनता के उपकार के लिए चाहती भी है; किन्तु यह नहीं हो पाता, बीच के कुछ रोड़ों के कारण। इन्हीं रोड़ों की ओर ध्यान दिलाना श्री जोशी जी का काम था और इन्हीं रोड़ों को खोज निकालना इस जन का।''

पर पान्डे जी के साथ एक कठिनाई और थी। वह अत्यन्त गरीब थे और बाहर जाकर रहने और पढ़ने का खर्चा नहीं उठा सकते थे। अत: जोशी जी ने उन्हें एतदर्थ यथेष्ट आर्थिक सहायता दी और बराबर देते रहे। इस प्रकार पान्डे जी का काशी आना और उच्च-शिक्षा प्राप्त करना इन्हीं जोशी जी की कृपा और प्रेरणा का फल था।

अस्तु, सन् १९२५ में पांडे जी काशी आए और हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए, जहाँ सन् १९२७ में उन्होंने इण्टरमीडिएट, सन् १९२९ में, बी०ए० और सन् १९३१ में एम०ए० किया।१९३१ से १९३४ तक वह वहीं सूफी-दर्शन और साहित्य पर विशेष अनुसंधान-कार्य करते रहे जो पूर्ण होने पर भी डी०लिट की उपाधि के लिए प्रस्तुत नहीं किया जा सका! .... जो हो उसी शिक्षा-काल में पान्डे जी विश्व-विद्यालय के दो प्रतिष्ठित और उच्च-कोटि के विद्वानों के निकट संपर्क में आए जिनमें से एक आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल थे और दूसरे अरबी-फरसी के अध्यक्ष स्वनाम-धन्य मौलवी महेश प्रसाद आलिम-फाजिल। श्री शुक्ल पान्डे जी के गुरू थे और श्री मौलबी साहब उनके सुहृद। कहना न होगा कि इन्हीं दोनों महानुभावों की कृपा से पान्डे जी के हृदय मे स्थित हिन्दी-प्रेम का वह बीज बढ़कर विराट वटवृक्ष बना जिसका फल आज हम राष्ट्र-भाषा हिन्दी के रूप में प्राप्त कर रहे हैं।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल पान्डे जी को बड़े स्नेह और सम्मान की दृष्टि से देखते थे और उनकी ''पकड़'' के कायल थे। विषय को समझने और उसकी गहराई में उतरने की उनकी अद्‌भुत क्षमता के वह बड़े प्रशंसक थे। संयोग से शुक्ल जी के पिताजी का नाम भी पं० चन्द्रबली था, अत: वह पान्डे जी को उनके नाम से नहीं ''शाह साहब'' के उपनाम से पुकारा करते थे जो पान्डे जी के साधु जीवन और सूफी साहित्य के अध्येता होने के कारण बड़ा ही उपयुक्त था। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी भाषा और साहित्य के विविध अंगों का विस्तृत ज्ञान, विशेषकर काव्य की परख पान्डे जी को शुक्ल जी की ही देन थी और वह इसे स्वीकार करते थे। वह शुक्ल जी के बड़े भक्त थे और जीते-जी वैसे ही बने रहे।

पान्डे जी को प्रभावित करने वाले तीसरे सज्जन श्री मौलवी महेश प्रसाद आलिम-फाज़िल इलाहाबाद जिले के फतेहपुर-कायस्थान गाँव के निवासी थे। इनका जन्म साधारण स्थिति के श्रीवास्तव कायस्थ कुल में हुआ था। अरबी, फारसी और उर्दू की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद वह कुछ दिनों इलाहाबाद के कटरा नामक मुहल्ले में अपने बड़े भाई मुंशी देवी प्रसाद जी के साथ रहे जो अर्जीनवीस थे और उसके बाद हिन्दू विश्वविद्यालय में अरबी-फारसी विभाग के अध्यक्ष होने पर काशी में।

मौलवी साहब बड़े औलिया किस्म के आदमी थे। सादा जीवन अ उच्च विचार की प्रतिमूर्ति। विवाह भी उन्होंने अपने मित्रों के आग्रह पर बहुत बाद में किया था और उसका सुख भी वह सुदीर्ष काल तक नहीं भोग सके। अत: बाह्यता: उनके और पान्डे जी के एकाकी जीवन में कोई अन्तर नहीं था। मम्भव है इसी चीज ने इन दोनों जनों को एक-दूसरे के निकट होने और साथ-साथ रहने के लिए आकृष्ट किया हो। जो हो पान्डे जी मौलवी साहब के साथ काशी में विभिन्न स्थानों में बीसियों वर्ष तक रहे— कमच्छा, अमेठी, कोठी लंका, लक्ष्मीलाज और रूइया-छात्रावास इत्यादि। यहाँ तक कि मौलवी साहब के अवकाश प्राप्त करके इलाहाबाद लौटने पर ही पान्डे जी का साथ छूटा।

राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा के लिए आचार्य पंडित चन्द्रबली पान्डे ने जो कुछ किया उसका इतिहास लम्बा है और गौरवपूर्ण भी। सम्राट अकबर के काल में हिन्दी राज-भाषा होने से वंचित अवश्य हुई थी; किन्तु वह काव्य और धर्म के सहारे अपनी स्थिति को दृढ़ बनाए रही। उसके इस सहज रमणीय रूप की उपेक्षा मुगल नहीं कर सके। अत: वे उसके संरक्षक ही नहीं संवाहक भी बने।

अंग्रेजी शासन के प्रारंभ होते ही कचहरियों में फ़ारसी के स्थान पर उर्दू कर दी गई। और इस प्रकार हिन्दी एक बार फिर विदेशी शासन में वंचना का शिकार हो गई शिक्षा-विभाग में भी स्वभावत: उसकी उपेक्षा होने लगी। अत: राष्ट्र के शुभचिंतकों का ध्यान राष्ट्र की वाणी की ओर आकृष्ट हुआ। भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने उद्‌घोष किया:—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटै न हिय को शूल।।

भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने अपनी रचनाओं के द्वारा हिन्दी को समृद्ध ही नहीं किया बल्कि बड़े गाढ़े समय में उसकी रक्षा भी की। उनकी प्रेरणा से उत्तर भारत में जहाँ-तहाँ "हिन्दी-प्रचारिणी" ओर "प्रवर्द्धिनी" सभाओं का जन्म हुआ जिन्होंने जनता को जाग्रत और सुसंगठित करने के साथ-साथ भाषा के महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट किया।

पान्डे जी श्रम और अध्यवसाय की मूर्ति थे। उनके मस्तिष्क ने विश्राम तो कभी ज़ाना ही नहीं । यहाँ तक कि मृत्यु शैया पर भी, जब वह स्वयं कुछ नहीं कर सकते थे, उस बुझती हुई शमा को परवानों ने चैन नहीं लेने दिया!

उनके साहित्यिक ग्रन्थ निम्नलिखित हैं :—

१. तसव्वुफ अथवा सूफ़ीमत (शोध-प्रबंध) सन् १९३१-३४ प्रका० सं० २००४ वि० सरस्वती मंदिर, जतनवर, काशी।
२. विचार-विमर्श सं० २००२ वि०हिं०सा०स० प्रयाग।
३. अनुराग बाँसुरी (संपादन) सं० वि०हिं०सा०स० प्रयाग
४. साहित्य-संदीपनी सं० २००४ वि० सरस्वती-मन्दिर जतनवर, काशी।
५. एकता सं० २००४ वि०हिं०सा०स० प्रयाग।
६. तुलसीदास सं० २००५ वि०, शक्ति कार्यलय, दारागंज,प्रयाग। सं० २०१६ वि० ना०प्र०स० काशी।
७. केशवदास सं० २००७ वि० ग्वालियर।
८. हिन्दी कवि गद्य का निर्माण सं० २००५ वि०.........काशी।
९. स्वप्न-सिद्धान्त (अप्रकाशित)
१०. हिन्दी कवि-चर्चा सं० २००५ वि० सरस्वती मन्दिर जतनवर काशी।
११. शूद्रक सं० २०१० वि० सुन्दर लाल जैन, मोती लाल बनारसीदास, नेपाली खपरा, काशी।
१२. कालिदास सं० २०११ वि० मोतीलाल बनारसीदास नेपाली खपरा काशी
१३. तुलसी की जीवन-भूमि सं० २०११ वि०, ना०प्र०स०, काशी।
१४. राधा (अपूर्ण)

श्री पान्डे जी का रचना काल सन् १९३१में उनके एम०ए० करने के बाद से प्रारम्भ होता है और २४ जनवरी सन् १९४८ में उनके निधन से समाप्त। इन सत्ताइस वर्षों को निम्नलिखित तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है जिनकी प्रत्येक की अवधि क्रमशः दस, नौ और आठ वर्ष है। कारण आगे स्पष्ट होगा:—

१. पूर्व-काल —सन् १९३१ से १९४० तक।
२. मध्य काल — सन् १९४० से १९४९ तक।
३. उत्तर-काल — सन् १९४९ से १९५८ तक (वस्तुत: १९५७)

१- पूर्व-काल

पूर्व-काल दूसरे शब्दों में उनका साधन-काल है जब पान्डे जी अपने ही शब्दों में लिखना सीख रहे थे। उस समय उनका व्यक्तित्व आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल से अभिन्न क्या अभिभूत था या कहना चाहिए कि लोग ऐसा ही समझते थे। अत: शुक्ल जी के जीते-जी पांडे जी की प्रतिभा का सही अनुमान लोगों को नहीं हो सका।

२- मध्य-काल

मध्य-काल विशेष रूप से राष्ट्र-भाषा हिन्दी के लिए आचार्य पंडित चन्द्रबली पांडे के संघर्ष का काल है। यह आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के निधन से प्रारम्भ होता है और समाप्त उस समय जब पांडे जी हैदराबाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति हुए। कहना न होगा कि इसी समय भारतीय संविधान में हिन्दी राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकृत हुई। अत: आगे उस संघर्ष की आवश्यकता नहीं रह गई। इस काल में दोनों प्रकार की रचनाएँ चलती रहीं प्रमुख रूप से राष्ट्र -भाषा प्रचार संबंधी और गौण रूप से नाद की उस दिव्य गुरू-शिष्य परम्परा को जीवित रखने के लिए साहित्यिक आलोचना की। अपने "विचार-विमर्श" की भूमिका में पांडे जी ने बड़ी भावुकता से इसका संकेत किया है:—

"आज से ठीक चार वर्ष पहले की बात है। स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का चोला बदल चुका था। चिंता थी अपने कर्तव्य की। सोचा वंश से ही नहीं शिष्य से भी परम्परा चलती है। बिन्दु से ही नहीं नाद से भी संसार में कुछ काम होता है। फिर क्या था लेखनी उठी और सात निबंध कुछ ही दिनों में बन गए।"

३- उत्तर-काल

उत्तर-काल आचार्य पांडे जी की विशुद्ध साहित्यिक साधना का काल है। जो सन् १९४९ से लेकर सन् १९५८में उनके पर्यवसान तक रहता है।इस काल में उन्होंने हिन्दी को सचमुच ऐसे ग्रन्थ-रत्न दिए हैं जो उनकी लोकोत्तर प्रतिभा, असाधारण पांडित्य और जबरदस्त लेखन-शक्ति के प्रतीक हैं और जिनके आधार पर सदैव उनकी गणना हिन्दी के महान् आचार्यों में की जायगी। "केशवदास", "शूद्रक" , " कालिदास" और "तुलसी की जीवन भूमि" ऐसे ही ग्रंथ हैं। खेद है कि इस काल के अंतिम तीन वर्ष उनके निरन्तर बीमारी में इतने काष्ट से कटे कि कहा नही जा सकता और उसी कारण उनका अंतिम ग्रंथ 'राधा" जिसे वह बड़े मनोयोग से लिख रहे थे, अपूर्ण ही रह गया।

पांडे जी के कर्तृत्व का यह संक्षिप्त-सा लेखा है जो घनिष्ठ रूप से उनके जीवन में जुड़ा हुआ है उस जीवन से जो चिर-अभाव और अनवरत कष्टों की एक रोमांचकारी कहानी है! क्या एक को याद करना विवेक और दूसरे को भूल जाना सहृदयता है? कभी नहीं। सच तो यह है कि उनके कर्तृत्व का ठीक-ठीक ज्ञान उनके जीवन की गहरी जानकारी से ही संभव है; सुनी-सुनाई बातों से नहीं। संकेत में इतना जान लें कि पांडे जी

स्वरूपत: "फक्कड़" और स्वभावत: "अक्खड़" थे। एक मात्र सत्य के उपासक होने के कारण विचार के क्षेत्र में समझौते की बात उन्हें सर्वथा अमान्य थी। अत: उनका उद्घोष था :—

"एकला चलो रे।
यदि तोर डाक सुने केउ न आसे, तबे एकला चलो रे।
एकला, चलो, एकला चलो, एकला चलो रे!"

—हैदराबाद का भाषण, पृ० ७२

किन्तु व्यवहार के क्षेत्र में उनका सबसे अनुनय था:—

"टूटियों बांह गरे परै, फूटे हूँ विलोचन पीर होति, हित करिये!"

—बम्बई अधिवेशन का भाषाण पृ० ३६

हाँ हित,केवल हित और कुछ नहीं। किन्तु, क्या हित उनसे किसी ने किया? हिन्दी साहित्य-सेवियों को इसका उत्तर देना है।

इलाहाबाद,
१.२.६०। माधशु० पंचमी सं० २०१६।



आचार्य चन्द्रबली पांडे का कृतित्व

(१९०४-१९५८)

१. कचहरी की भाषा ओर लिपि सं० १९९६ ना०प्र०स०, काशी
२. बिहार में हिन्दुस्तानी सं० १९९६ ना०प्र०स०, काशी
३. भाषा का प्रश्न सं० १९९६ ना०प्र०स०, काशी
४. मुगल बादशाहों की हिन्दी सं० १९९७ ना०प्र०स०, काशी
५. अनुराग बाँसुरी (संपा०) सं० २००२ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
६. तसव्वुफ अथवा सूफ़ीमत सं० २००२ सरस्वती मंदिर, जतनवर काशी
७. राष्ट्रभाषा पर विचार सं० २००२ सरस्वती मंदिर, जतनवर , काशी
८. विचार -विमर्श सं० २००२ हिन्दी साहित्य सम्मेलन , प्रयाग
९. नागरी का अभिशापसं० २००२ विद्या मंदिर प्रकाशन, मुरार, ग्वालियर
१०. नागरी ही क्यों? सं० २००३ नवयुग हिन्दी साहित्य विद्यालय, काशी
११. प्रक्षालन या प्रवंचना सं० २००३ नवयुग हिन्दी साहित्य विद्यालय, काशी
१२. साहित्य संदीपिनी सं० २००४ सरस्वती मंदिर, जतनवर, काशी
१३. हिन्दी की हिमायत क्यों सं० २००४ ना०प्र०स०, काशी
१४. एकता सं० २००४ हि० सा० सम्मे० प्रयाग
१५. ए प्ली फॉर नागरी हिन्दी सं० २००५ हि० सा० सम्मे० प्रयाग

अंग्रेजी में

१६. लिंग्विस्टिक सर्वे-ए पोलिटिकल स्टंट सं० २००५ ना० प्र० स० काशी
१७. नेशनल लैंग्वेज फॉर इन्डिया सं० २००५ ना० प्र० स० काशी
१८. नेशनल स्क्रिप्ट फॉर इन्डिया सं० २००५ ना० प्र० स० काशी
१९. नागरी ए लैंग्वेज सं० २००५ ना० प्र० स० काशी
२०. द मिस्ट्री इज अनवील्ड सं० २००५ ना० प्र० स० काशी
२१. हिन्दी कवि चर्चा सं० २००५ सरस्वती मंदिर जतनवर, काशी
२२. शासन में नागरी सं० २००५ हिन्दी सा० सम्मे० प्रयाग

२३. हिन्दी गद्य निर्माण सं० २००५ युगाश्रय, विश्वेश्वरगंज काशी
२४. तुलसीदास सं० २००८ शक्ति कार्यालय, प्रयाग
२५. केशवदास सं० २००५ शक्ति कार्यालय, प्रयाग
२६. शूद्रक सं० २०१० मोतीलाल बनारसीदास, काशी
२७. कालिदास सं० २०११ मोतीलाल बनारसीदास, काशी
२८. तुलसी की जीवन-भूमि सं० २०११ ना०प्र०स० काशी
२९. राधा (अपूर्ण) अप्रकाशित
३०. स्वप्न सिद्धान्त अप्रकाशित



❑ श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान

सुभद्राजी की सफलता का रहस्य

● मुक्तिबोध

आधुनिक हिन्दी-काव्य के प्रथम भावोल्लास के काल में जिन कवि-वाणियों ने जनता को उत्स्फूर्त किया, उसे प्रेम और देशभक्ति के आवेग और आह्लाद में सराबोर कर दिया, उनमें स्वर्गीया सुभद्रा कुमारी चौहान का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वे दिन जिन्हें याद हैं, राष्ट्रीय आन्दोलन के यौवन का नवीन स्पर्श जिन्हें याद है, साहित्यिक भावोल्लास की नव-नवीन लहरियों का वह आत्मविश्वासपूर्ण सुनहला प्रभात जिन्हें याद है, वे बतला सकते हैं कि सुभद्राजी के काव्य में अनूठापन कहाँ है, किस स्थान पर है ,और क्यों है।

उनके चमत्कार – वर्जित काव्य में वह मौलिकता उत्पन्न हुई, वह रस-ग्राहिणी और रस-प्रदायिनी शक्ति उत्पन्न हुई, जिसके द्वारा उनके साहित्य के माध्यम से युग का, और युग के माध्यम से उनके साहित्य का, अध्ययन सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

सुभद्राजी के साहित्य में जो स्वाभाविक प्रवाहमयी सरलता है— जो अहेतुक गम्भीर मुद्रा का खटकता-सा लगनेवाला अभाव है— उसका कारण है जीवन के उस मौलिक उद्वेग का योग, जिसने समाज में भिन्न-भिन्न रूप धारण किए। राष्ट्रीय आन्दोलन उसका एक रूप था, उसकी एक अभिव्यक्ति थी। स्त्रियों की स्वाधीनता का प्रश्न उसका दूसरा रूप, दलित जातियों का उत्थान तीसरा।

व्यक्ति के धरातल पर आकर इन्हीं रूपों ने देशभक्ति वीरोत्साह, विश्व-मानवता के प्रति आस्था के साथ मनुष्य-मनुष्य के परस्पर वास्तविक सम्बन्धों, अर्थात् उसके व्यक्तिगत जीवन के प्रधान भावों का संगम करा दिया, और इस प्रकार मानव-चेतना को एक ऐसे लोक के सिंहद्वार के सम्मुख उपस्थित कर दिया जिसको खोलने के उपरान्त मनुष्य अपने जीवन को स्पृहणीय परिस्थितियों में देखे और आंकेगा।

उस सिंहद्वार को धक्का देता हुआ अभी भी अपार जन-यूथ खड़ा हुआ है। परन्तु उस प्रयत्न को प्रारम्भ करने वाले, उस प्रयत्न के उल्लास को काव्य का रूप देनेवाले और उस काव्य को ऊष्माभरी मानवीय गन्ध में बोर देनेवाले, जो कवि-कार्यकर्ता हुए, उनका स्मरण, उनके प्रयत्नों का अध्ययन, और उनके महत्त्व का मूर्तीकरण, अपने-आप में एक प्रेरणामय उदात्त कर्म है।

यह निःसन्देह और निःसंकोच कहा जा सकता है कि सुभद्राजी के साहित्य में अपने युग के मूल उद्वेग, उसके भिन्न-भिन्न रूप, अपनी आभरणहीन प्रकृत शैली में प्रकट हुए हैं। यह एक विशेष और भिन्न प्रश्न है कि उनके काव्य-रूप कहाँ तक सफल हुए हैं, जिसके बारे में आगे विचार किया जाएगा।

राष्ट्रीय चेतना की विस्तारशील परिधि के अन्दर पनपनेवाली आत्म-चेतना के जो मनोहर बिम्ब हमें आधुनिक हिन्दी-काव्य में दिखाई देते हैं, वे आज भी हमारे गौरव का विषय हैं। इस काव्य-साहित्य में सुभद्राजी का साहित्य, अपनी भाव-पद्धति और शैली की विशेषताओं के कारण, पृथक और विशेष स्थान रखता है।

आधुनिक हिन्दी-काव्य में छायावाद की सघनाताओं से अभ्यस्त पाठक, सूक्ष्म रोमाण्टिक रहस्यात्मक भावच्छायाओं तथा रंगीन निबिड़ लोकों का निरीक्षण करते हुए, कवि के व्यक्तित्व की भी कल्पना कर लिया करता है। बिना इस व्यक्तित्व-कल्पना के उस कवि के व्यक्तित्व की कल्पना पहले नहीं आती, कविताओं पर मनन की लम्बी प्रक्रिया के उपरान्त वह धीरे-धीरे मन में विकसित होने लगती है।

सुभद्राजी के साहित्य तथा छायावादी साहित्य की तुलना करने पर छायावादी व्यक्तित्व तथा एक-दूसरे प्रकार के व्यक्तित्व के बिम्ब हमारी आंखों में तैरने लगते हैं। छायावादी व्यक्तित्व एक विशेष प्रकार की भाव-सघनता लेकर हमारे सामने उपस्थित हुआ। उसका साधारण मनोलोक असाधारण रूप से अन्तर्मुख तथा सर्व-साधारण से बहुत दूर जा पड़ा। जिस पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन की परिधि में उसके भाव-विचार बने, वे अपने विषय के लिए उस परिधि की ओर नहीं गए वरन् उससे बहुत दूर और अत्यन्त मानसिक हो गए। वस्तु भी मानसिक हुई ओर उस पर प्रतिक्रिया भी मानसिक हुई। इस मानसिक वस्तु को बाह्य सन्दर्भों से, जहाँ तक बन सका, दूर रखा गया। इस प्रकार उसे वायवीय स्थिति प्रदान की गई।

इसके विरूद्ध, सुभद्राजी के काव्य-विषय के मूल तत्व, अपने प्रकृत रूप में, पारिवारिक- सामाजिक-राष्ट्रीय जीवन-परिधि से अधिक परिचित, निकट और उसके प्रति अधिक ईमानदार रहीं। छायावादियों के कुछ निजी गिने-चुने काव्य-विषय थे जो कि एक विशेष अर्थ में उनकी सीमा भी निर्धारित कर देते थे। वह कवियों का बन्दीगृह भी हो गया। था। वे वैविध्यमय जीवन-क्षेत्र में मानवी सम्वेदनशीलता का इतिहास प्रस्तुत न कर पाते थे। वह काव्य कुछ स्थाई भाव-रूपों से इतना आक्रान्त था कि वस्तु-जगत के प्रति होनेवाली सम्वेदनात्मक मानसिक प्रतिक्रियाओं को—जो कवियों के मन में भी होती ही थीं—काव्य-विषय बन जाने के लिए उपयुक्त सन्तोषजनक महत्त्व प्रदान नहीं कर सकता था।

परन्तु साम्राज्यवाद के अन्तर्गत रहनेवाले भारत में परिवर्तनों का तांता-सा बंध गया था। उन परिवर्तनों के आघात-प्रत्याघात के कारण जीवन, अपनी सारी कटुताओं के बावजूद, अधिक भाव-सम्पन्न, आदर्श-सम्पन्न हो गया था। जनता के संघर्ष के कारण

उसकी अग्नि-प्रोज्जवल चेतना के कारण, जो एक नवीन वातावरण तैयार हो गया था, उसने नवीन मानव-सम्बन्धों को उभारकर, एक स्थाई आवश्यकता की पूर्ति के रूप में आदर्शोज्ज्वल बनाते हुए, उन्हें दुर्निवार महत्व प्रदान किया था।

जीवन-संघर्ष में भाग लेनेवाली स्त्री ने (जिसने जन-संघर्ष में भी भाग लिया) अपने पति को सखा के रूप में पाया— अथवा,पाने का आग्रह करने लगी। नवीन परिस्थिति में नवीन मानव-सम्बन्धों की ऊर्जास्वलता और माधुर्य का अनुभव करने वाले जनों का काव्य ऐकान्तिक न रहकर अधिक मूर्त्त, अधिक सरल, और जन-साधारण-मूलक मानवीय हो गया। उसके काव्य-विषय शुद्ध मानसिक वस्तु, शुद्ध भाव-रूप, नहीं रहे। पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय जीवन-क्षेत्र की स्थिति परिस्थिति पर और उससे प्रभावित-परिवर्तित होने वाले मानव-सम्बन्धों पर सम्वेदनात्मक मानसिक प्रतिक्रिया-प्रत्याघात के रूप में वे प्रतिफलित हुए।

घटनाओं और मानव-सम्बन्धों के आघात प्रत्याघात के इस भंवर में भाव-लहरियों की गति भी मिली हुई थी। भाव-लहरियों की यह गति जिन्होंने ग्रहण की , वे प्रत्यक्ष के अधिक निकट और अधिक मानवीय जनतान्त्रिक हुए।

छायावादी कवि, पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय जीवन से आक्रान्त होते हुए भी, उसे अपना न सके-उसके अन्दर छिपे हुए मानव-सम्बन्धों को वे काव्य विषय न बना सके। अपनी आत्मवादी भूमिका के कारण वे शिक्षित समुदाय की प्रवृत्तियों को अवश्य सन्तुष्ट करते रहे और आधुनिक हिन्दी-काव्य की प्रधान धारा के रूप में हमने उनको पाया। किन्तु इससे सुभद्राजी के साहित्य का महत्त्व कुछ कम नहीं होता वरन् वह अधिक हो जाता है, क्योंकि उसके द्वारा आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य की एकांगिता के कम होने के साथ-ही साथ एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति होती है।

जनसंघर्ष में भाग लेनेवाली स्त्री-कवि का सम्वेदनात्मक जीवन, पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय परिस्थिति के अन्तर्गत, विविध मानव-सम्बन्धों की अनुभूति और उस पर आश्रित विविध भावों का जीवन है। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रथम आत्म-विश्वासपूर्ण उद्रेक से प्रेरित होकर, उन्होंने देशभक्ति के उल्लास में, आत्मोत्सर्ग के उत्साह में अपने जीवन को एक विशेष प्रकार से व्यवस्थित और विकसित किया।

राष्ट्रीय जागरण की स्वर्ण किरणों से जिनका जीवन पुलकित हो उठा था, ऐसे अनेक परिवारों में से सुभद्राजी का भी एक परिवार था। सुभद्रा जी के काव्य को हम उनकी पारिवारिकता से अलग नहीं कर सकते। इसे पारिवारिकता ने ही उनके काव्य में एक विशेष प्रकार की ऋजुता और समीपता का गुण उत्पन्न किया,उसे अधिक मूर्त्तता प्रदान की। उदाहरणत: एक कविता—

बहुत दिनों तक हुई प्रतीक्षा,
अब रूखा व्यवहार न हो,

अजी, बोल तो लिया करो तुम
चाहे मुझपर प्यार न हो।
जरा-जरा-सी बातों पर,
मत रूठो मेरे अभिमानी;
लो प्रसन्न हो जाओ, गलती
मैंने अपनी ही मानी।
मैं भूलों की भरी पिटारी,
और दया के तुम आगार;
सदा दिखाई दो तुम हंसते,
चाहे मुझसे करो न प्यार।

उपरिलिखित गीत एक निराली चीज है। भारतीय साहित्य में प्रणय-गीतों का बाहुल्य है। ''उन्मद मदन मनोरथ' से लगाकर 'प्राण, तुम लघु-लघु गात' तक, इसके भी पहले से और इसके बाद तक भी, प्रणयगीत हमारे साहित्य में कामुक भाव-भंगी के प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न दोनों रूपों में अवतरित हुए हैं। छायावादी लेखनी द्वारा भी वे अतृप्त काम के चित्र हो उठे। रहस्यात्मक चित्रों, संकेतों,प्रतीकों ने प्रत्यक्ष मानव-सम्बन्ध को दबा दिया।

हिन्दी साहित्य के कदाचित् पहली बार प्रणय के मानव-सम्बन्ध को उसकी उचित भूमिका-प्रसंग में रखकर देखा गया है। ऊपर उद्धृत कविता में यदि प्रसंग की भूमिका और उसके द्वारा अभिव्यक्त होनेवाले एक विशेष मानव-सम्बन्ध को न दिखाया गया होता, तो यह कविता अपने इस रूप में न दिखाई दी होती। साथ ही, पारिवारिक जीवन के माधुर्य का चित्र भी उपस्थित न हो पाता।

मनुष्य-मनुष्य के बीच परस्पर मधुर सम्बन्ध कुछ विशेष प्रसंगों की भूमिका में अधिक उभरते हैं। उनका काव्य के माध्यम से आकलन कवि का एक प्रधान धर्म है। कदाचित् सुभद्राजी को छोड़कर और किसी ने इस दिशा में अधिक प्रयास नहीं किया (मैथिली शरण गुप्त को छोड़कर) इससे यह भी सिद्ध होता है कि हमारा छायावादी कवि, जो पूर्ण मानव-सम्बन्धों से बनी हुई मानवता है उससे बहुत दूर जा पड़ा है। यह उस युग की एक बहुत शोचनीय सीमा है। क्या कारण है कि किसी भी आधुनिक कवि के प्रणय-गीतों में गार्हस्थिकता का सन्दर्भ और पारिवारिकता की भूमिका नहीं रही?

इसी प्रणय-भाव की वास्तविकता का दूसरा नमूना देखिए—

तुम मुझे पूछते हो जाऊं,
मैं क्या जवाब दूँ, तुम्हीं कहो,
'जा...' कहते रूकती है जबान,
किस मुंह से तुमसे कहूँ रहो।
सेवा करना था जहां मुझे,

कुछ भक्ति-भाव दरसाना था,
उन कृपा कटाक्षों का बदला,
बलि होकर जहाँ चुकाना था।

मैं सदा रूठती ही आई,
प्रिय, मैंने तुम्हें न पहचाना;
वह मान बाण-सा चुभता है,
अब देख तुम्हारा यह जाना।

एक कवि का आदर करते हुए दूसरे कवि का अनादर करना ठीक न होगा।

एक काव्य-शैली को प्रधानता देते हुए दूसरी काव्य-शैली की सीमाएं उभारना भी वांछनीय नहीं है। परन्तु फिर भी यह कहना ही पड़ता है कि जीवन के साक्षात् विविध प्रसंगों की भूमिकाओं और उसके सन्दर्भों का त्याग आखिर क्यों? क्या काव्य की यूनिवर्सल अपील इससे खत्म होती है? इतने बड़े हिन्दी काव्य-साहित्य में मां के ऊपर, पिता के ऊपर, भाई के ऊपर, एक भी कविता देखने में नहीं आती-राखी के प्रसंग में बहन अथवा भाई पर लिखी गई कुछ कविताओं को छोड़कर।

इससे यह सिद्ध होता है कि हमारे कवियों का जीवन अनुभव-सम्पन्न और भाव-सम्पन्न होते हुए भी, उनकी आत्मबद्ध पिपासाओं ने अभिव्यक्ति के क्षेत्र से उन अनुभवों को हटा दिया। जीवन के असंख्य वास्तविक भावानुभवों को काव्योचित महत्त्व नहीं दिया गया, और उन्हें काव्य-रूप प्रदान नहीं किया गया। आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य की एकरसता में सुभद्राजी की झंकार एक नवीन दृश्य उपस्थित करती है। उनकी कविता से सहज मैत्री का बोध, सामीप्य का भाव, उत्पन्न होता है। हृदय स्नेहमय सामीप्यपूर्ण वातावरण में सांस लेने लगता है।

इसका एक साधारण नमूना नीचे दिया जाता है—

मुझे कहा कविता लिखने को,
लिखने बैठी मैं तत्काल
पहले लिखा जालियांवाला,
कहा कि बस हो गया निहाल।
तुम्हें और कुछ नहीं सूझता,
ले-देकर वह खूनी बाग।
रोने से अब क्या होता है,
धुल न सकेगा उसका दाग।
भूल उसे जब कुछ हो,
मैने कहा-धरो हंसे मस्त धीर,

तुमको हंसते देख कहीं फिर,
फायर करे न डायर वीर!

इस कविता की सारी स्पिरिट, सारी आत्मा, एक प्रसंग में है। ऊपर-ऊपर से वह एक तुकबन्दी-सी मालूम होती है। काव्य शब्दावली का जैसे बहिष्कार-सा है। फिर भी कविता एक मधुर मानव-सम्बन्ध को एक विशेष प्रसंग की भूमिका में प्रकट करती है। ऐसा जहाँ-जहाँ हुआ है, सुभद्राजी का काव्य मधुर और वास्तविक हो गया है।

एक विशेष सामाजिक और राष्ट्रीय परिस्थिति की परिधि में अभिव्यक्त हो उठनेवाले मानव-सम्न्न्धों का बड़ा ही हृदयग्राही अंकन सुभद्राजी के काव्य में हुआ है। यथा—

देखा भैया, भेज रही हूँ,
तुमको-तुमको राखी आज,
साखी राजस्थान बनाकर,
रख लेना राखी की लाज।
हाथ कांपता, हृदय धड़कता,
है मेरी भारी आवाज;
अब भी चौंकाता है जलियाँ;
वाले का वह गोलन्दाज!
बहनें कई सिसकती हैं हा,
सिसक न उनकी मिट पाई;
तिस पर गोली भी खाई।
डर है कहीं न मार्शल-ला का,
फिर से पड़ जावे घेरा;
ऐसे समय द्रौपदी-जैसा,
कृष्ण सहारा है तेरा।
बोलो, सोच-समझकर बोलो,
क्या राखी बंधवाओगे?
भीर पड़ेगी क्या तुम रक्षा
करने दौड़े आओगे?
यदि हाँ,तो यह लो मेरी,
इस राखी को स्वीकार करो;
आकर भैया, बहन 'सुभद्रा' —र
के कष्टों का भार हरो।

सुभद्राजी की पारिवारिक भावनाएं कर्तव्याभिमुख हैं। 'परिवार' शब्द यहां नागरिकशास्त्र के 'कुटुम्ब' का पर्यायवाची नहीं है। जो अपना-सा हो जाए, वही अपने परिवार का व्यक्ति। परिवार के व्यक्ति के प्रति अपनी भावनाओं को प्रकट करते हुए वे उनके द्वारा

उसकी विवेक-चेतना को सुषुप्त नहीं करती, वरन उसे जाग्रत करके एक आदर्श की ओर उन्मुख कर देती हैं। यह आदर्श सामाजिक राष्ट्रीय है। अपनी प्रसिद्ध कविता 'राखी की चुनौती' में वे कहती हैं—

आते हो भाई पुनः पूछती हूँ.....
कि माता के बन्धन की है लाज तुमको?
तो बन्दी बनो, देखों बन्धन है कैसा
चुनौती यह राखी की है आज तुमको।

उनका यह आदर्श बहुत सीधा-सादा है पर महान गम्भीर है। अत्यन्त उदात्त है। केवल आत्मोत्सर्ग का कार्य है। प्रतीक-विधान है, किन्तु वह रहस्य का प्रतीक-विधान नहीं देवता है, मन्दिर है, पुजारी है। परन्तु काव्य का यह विषय -क्षेत्र कोई रहस्य क्षेत्र नहीं, मानव-सम्बन्धों का क्षेत्र, जिसका दूसरा नाम जगत्। उनकी अत्यन्त सुन्दर कविता 'मातृमन्दिर' में से अवतरण देने का मोह संवरण नहीं किया जा सकता—

वीणा बज उठी, खुल गए नेत्र,
और कुछ आया ध्यान,
मुड़ने की थी देर, दिख पड़ा
उत्सव का प्यारा सामान।
जिसको तुतला-तुतला करके,
शुरू किया था पहली बार,
जिस प्यारी बोली में हमको,
मिला हमारी मां का प्यार,
है उसका ही समारोह यह,
उसका ही उत्सव प्यारा;
मैं आश्वर्य भरी आंखों से,
देख रही हूँ यह सारा।

इस हिन्दी भाषा का आदर्श क्या होगा? कवि के ही शब्दों में—

असहयोग पर मिट जाना,
यह जीवन तेरा होगा;
हम होंगे स्वाधीन, विश्व का,
वैभव-धन तेरा होगा।
तू होगी व्यवहार देश के
बिछुड़े हृदय मिलाने में;
तू होगी अधिकार देश भर
को स्वातन्त्र्य दिलाने में।

और इसी मातृमन्दिर के लिए कवि व्यथित है—

व्यथित है मेरा हृदय प्रदेश
चलूं उसको बहलाऊं आज;
बताकर अपना सुख-दुख उसे
हृदय का भार हटाऊं आज।
चलूं मां के पद-पंकज पकड़,
नयन जल से नहलाऊं आज;
मातृमन्दिर में—मैंने कहा—
चलूं दर्शन कर आऊं आज।

और एक साथी लेखक की मृत्यु पर लिखी ये पंक्तियां कितनी सरल भावुकता से भरी हैं—

देव! वे कुजें उजड़ी पड़ीं
और वह कोकिल उड़ ही गई,
हटाई हमने लाखों बार,
किन्तु वे घड़ियां जुड़ ही गईं।

सुभद्राजी की भावुकता कोरी भावुकता नहीं है, बाह्य जीवन पर सम्वेदनात्मक मानसिक प्रतिक्रियाएं हैं। यही कारण है कि उनकी कविताओं में भाव मानव-सम्बन्ध से, मानव सम्बन्ध विशेष परिस्थिति से, विशेष परिस्थिति सामाजिक-राष्ट्रीय परिस्थिति से एक अटूट सम्बन्ध-शृंखला में बंधी हुई है। भाव के सारे सन्दर्भो का निर्वाह उनके काव्य में हो जाता है। इससे उनकी वास्तविक भाव-सम्पन्नता का, सम्वेदनशीलता का, चित्र हमारे सामने खिंच जाता है।

अपने जीवन की सम्वेदनशीलता के इतिहास के प्रति चेतन मनुष्य यह स्वीकारेगी कि स्वस्थ साधारण मनुष्य की यही चेतना-शैली है। इससे सुभद्राजी की प्रगतिशीलता का, बाह्य परिस्थिति पर सम्वेदनात्मक प्रतिक्रिया करने की उनकी शक्ति का, व्यावहारिक साभाजिक जगत् में रहने वाले मनुष्य-जिसमें प्रत्येक मनुष्य रहता है, छायावादी कवि स्वयं रहता है— के भाव-चरित्र का, पता चल जाता है। अत: इससे बड़ी सफलता क्या हो सकती है कि कोई कवि वास्तविक सम्वेदनशील मनुष्यता की तस्वीर उतारे, अथवा अपनी शक्ति के अनुसार अपने स्वयं के भाव-जीवन द्वारा उसका प्रतिनिधित्व करे? सुभद्रजी की सरल भावमयी शैली की यह सुन्दरता है।

जिस प्रकार उन्होंने एक प्रणयिनी की भांति यह कहा कि—

लगे आने, हृदय-धन से -
कहा मैंने कि मत आओ,
कहीं हो प्रेम में पागल,
न पथ में ही मचल जाओ।

कठिन है मार्ग, मुझको
मंजिलें वे पार करनी हैं;
उमंगों की तरंगें बढ़ पड़ें—
शायद फिसल जाओ।
तुम्हें कुछ चोट आ जाए,
कहीं लाचार लौटूं मैं;
हठीले प्यार से व्रत-भंग
की घड़ियां निकट लाओ।

उसी प्रकार उन्होंने आदर्श भारतीय नारी की भांति कहा—

पूजा और पुजापा प्रभुवर,
इसी भिखारिन को समझो;
दान-दक्षिणा और निछावर,
इसी भिखारिन को समझो।

किन्तु प्रणय-भाव, दाम्पत्य-भाव, भाव-जीवन का एक अंग मात्र है। वह सम्पूर्ण जीवन कभी नहीं हो सकता। भाई है, बहन है, परिवार है, समाज है, राष्ट्र है। एक संक्रान्ति काल है। सबको कर्तव्य करना है। प्रणय-भाव यदि अन्ध नहीं है तो उसे सारे भावों को जगह देनी चाहिए। स्वयं उनकी कविताएं देखिए। किसी भाई के प्रति—

कृष्ण मन्दिर में प्यारे बन्धु,
पधारो निर्भयता के साथ;
तुम्हारे मस्तक पर हो सदा,
कृष्ण का वह शुभचिन्तक हाथ।
तुम्हारी दृढ़ता से जग पड़े,
देश का सोया हुआ समाज;
तुम्हारी भव्यमूर्ति से मिले,
शक्ति वह विकट त्याग की आज।
अथवा राखी के अवसर पर—
बहिन आज फूली समाती न मन में;
तड़ित आज फूली समाती न घन में,

इन मानव सम्बन्धों को सुभद्राजी ने एक राष्ट्रीय परिस्थति के अन्दर ही देखा है, अत: उनका प्रेम अपने आलम्बन को कर्तव्य की ओर ही प्रेरित करता है। यह कर्तव्य वह महान राष्ट्रीय कार्य है जिससे भारत एक स्वतंत्र और महान् देश होगा। वे अपने पति, भाई, बहन, स्त्रियों आदि सबको इसी ओर प्रेरित करती हैं । उनके प्रति सुभद्राजी का प्रेम उन लोगों कों लगातार उस राष्ट्रीय आदर्श की ओर झोंकता है, मानों उस स्नेह सबन्ध का साफल्य बिना उस राष्ट्रीय आदर्श की पूर्ति, असम्भव-सा है।

अर्थों में सुभद्राजी का राष्ट्रीय कार्य हिन्दी में बेजोड़ है। क्योंकि उन्होंने
को जीवन में समाया हुआ देखा है, उसकी प्रवृत्ति अपने अन्त:करण
ह अपने समस्त जीवन सम्बन्धों की उसी प्रवृत्ति की प्रधानता पर आश्रित
ीवन सम्बन्धों को उस प्रवृत्ति के प्रकाश से चमका देती हैं। यही उनके
सबसे बड़ाई, ऊंचाई और सफलता है। उनका राष्ट्रीय काव्य मात्र
ावुकता पर आश्रित नहीं है। वह जीवन के प्रधान कर्तव्य की अभिव्यक्ति
सामने आता है। वह कर्तव्य की अभिव्यक्ति भावुकता से भरी है। उस
न के सन्दर्भो से हटाकर अमूर्त रूप से नहीं रखा गया बल्कि उसे
यों में मिलाकर प्रत्यक्ष कर दिया गया है। यथा—

गिरफ्तार होने वाले हैं,
आता है वारण्ट अभी।
धक-सा हुआ हृदय, मैं सहमी,
हुए विकल आंशक सभी।
किन्तु सामने दीख पड़े—
मुसकुरा रहे थे खड़े-खड़े ;
रूके नहीं आंखों से आंसू
सहसा टपके बड़े-बड़े।
पगली यों ही दूर करेगी
माता का यह कौरव कष्ट?
रूका वेग भावों का, दीखा
अहा, मुझे यह रौरव स्पष्ट
तिलक, लाजपत, गांधीजी भी,
बन्दी कितनी बार हुए;
जेल गए, जनता ने पूजा,
संकट में अवतार हुए।
मैं पुलकित हो उठी यहां भी,
आज गिरफ्तारी होगी,
फिर जी धड़का क्या भैया की,
सचमुच तैयारी होगी।
सदियों सोई हुई वीरता,
जागी, मैं भी वीर बनी,
जाओ भैया विदा तुम्हें
करती हूँ मैं गम्भीर बनी।

उ
कहा जा
सन्देह है
हुआ है,
काव्य उ
पौरुषप्र
कारण
है।

गहरे रंग
व्यक्ति
सर्वगम्य
की भूमि
धरातल
मानवीय
उ
वास्तवि
सुभद्राजी
'मानवीय
प
संवेदनात्म
व्यक्तित्व
है कि सु
वरन उन
पद्य-बद्ध
जी
भी अपनी
जीवन में
हिन्दी के
कविताएं
कवि की
तादात्म्य के
वात्सल्य-र

याद भूल जाना मेरी उस
आंसूवाली मुद्रा की,
कर लो अब स्वीकार बधाई,
छोटी बहिन सुभद्रा की।

उपरलिखित कविता सुभद्राजी की प्रसिद्ध कविताओं में से नहीं है, किन्तु वह यह स्पष्ट करती है कि कवि अपनी भावनाओं को किस प्रकार, किन उपायों के द्वारा काव्य-स्तर पर प्रतिष्ठित करता है। उसकी 'झांसी की रानी' कविता इतनी प्रसिद्ध है कि उसके उद्धरणों की यहां कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जलियांवाला बाग में बसन्त उनकी राष्ट्रीय भावुकता का प्रमाण है। 'यहां कोकिला नहीं, काक हैं शोर मचाते, से आरम्भ होकर यह कविता वसन्त के प्रति कुछ अप्रतिम उद्‌गारों को प्रकट करती है—

लाना संग में पुष्प न हो वे अधिक सजीले,
हो सुगन्ध भी मन्द, ओस से कुछ-कुछ गीले।
किन्तु न तुम उपहार भाव आकर दरसाना,
स्मृति में पूजा हेतु यहाँ थोड़े बिखराना।
कोमल बालक मरे यहाँ गोली खा-खाकर,
कलियां उनके लिए गिरावा थोड़ी लाकर।
आशाओं से भरे हृदय भी छिन्न हुए हैं।
कुछ कलियां अधखिली यहाँ इसलिए चढ़ाना,
करके उनकी याद अश्रु की ओस बहाना।
तड़प-तड़पकर वृद्ध मरे हैं गोली खाकर,
शुष्क पुष्प कुछ वहां गिरा देना तुम जाकर।
यह सब करना, किन्तु बहुत धीरे-से आना,
यह है शोक-स्थान यहां मत शोर मचाना।

हिन्दी में प्रलय-गीतों की कमी नहीं है। ओज और प्रवाह ही को काव्य-तत्व माननेवाले आलोचकों को कदाचित् उन कविताओं का शोर-गुल ही उनका प्राण मालूम होगा। उनमें की जो अच्छी कविताएं हैं, उनमें नाश-स्वप्नों का अन्तर्मुख वर्णन है। सुभद्राजी की राष्ट्रीय कविताओं में न तो उस प्रकार का ओज है, न कल्पना-जगत् में शान्ति प्राप्त करने वाली इच्छा से अनुशासित नाश-स्वप्न उनके काव्य में दिखाई देते हैं।

राष्ट्रीय संग्राम में सक्रिय भाग लेनेवाली कवयित्री का राष्ट्रीय काव्य जीवन-प्रसगों की भूमिका को लेते हुए मानवीय हो गया है। वह हिन्दी की वीर काव्य-परम्परा-जिसमें उत्साह, भय और ध्वंस का वर्णन रहता है— का अनुगमन नहीं करता, न व्यक्ति के ध्वंस-स्वप्नों के इच्छित विश्वासों पर ही चलता है। सुभद्राजी के राष्ट्रीय काव्य का सबसे बड़ा गुण है उनकी जन-साधारण मानवीयता। यही गुण उनके राष्ट्रीय काव्य को विशेषता प्रदान करता है।

उनके राष्ट्रीय काव्य में मानवीयता की सरल ऋजु स्वाभाविकता कहां से उत्पन्न हुई? कहा जा सकता है कि उसका आधार राष्ट्रीय संग्राम के व्यक्तिगत अनुभव हैं। यह निः सन्देह है कि जिन हिन्दी कवियों ने राष्ट्रीय संग्राम में भाग लिया, उनका काव्य बहुत प्रौढ़ हुआ है, तथा उसमें बहुत गहरे भावों की अभिव्यक्ति हुई है। फिर भी सुभद्राजी के राष्ट्रीय काव्य उनसे भिन्न हो जाता है, अपने सारल्य और सीधी अभिव्यक्ति के कारण ही नहीं पौरुषप्रधान ओज के अभाव अथवा किसी एक भाव के अन्तर्मुख मनन के अभाव के कारण ही नहीं, वरन् उस एक गुण के कारण जिसे मैंने जन-साधारण मानवीयता कहा है।

व्यक्तिगत भावों को निर्वैयक्तिकता कई प्रकार से प्रदान की जाती हैं। भावों को बहुत गहरे रंगों में उभारकर रखने से भी उसकी व्यक्तिमूलक सीमाएं टूट जाती हैं, और वह अन्य व्यक्ति द्वारा संवेद्य हो जाता है। सुभद्राजी ने ऐसा नहीं किया हैं। , उनके काव्य की सर्वगम्यता और सहज-संवेद्यता सीधी अभिव्यक्ति के कारण ही नहीं है, वरन् जीवन प्रसंगों की भूमिका में किसी एक भाव-क्षण को उपस्थित करने के कारण, जीवन के वास्तविक धरातल पर भावों को प्रकट करने के कारण, उनमें वह गुण उत्पन्न हुआ जिसे हम मानवीयता कहते हैं।

अन्य राष्ट्रीय कवियों ने उन देशभक्तिपूर्ण भाव-क्षणों को जीवन-प्रसंगों की वास्तविक भूमिका से विच्छिन्न कर, उन्हें एक आत्मसम्पूर्ण रूप देने का प्रयास किया। सुभद्राजी के राष्ट्रीय काव्य में जीवन का जो ऊष्मापूर्ण सम्पर्क है, उसके द्वारा ही यह 'मानवीयता' उत्पन्न हुई।

पहले कहा जा चुका है कि जीवन के विविध वास्तविक प्रसंगों से सम्बन्धित संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएं, सुभद्राजी के काव्य का मूल आधार होने के साथ-ही-साथ, उनके व्यक्तित्व की विशेषताओं पर हमारी दृष्टि ले जाती हैं। हमें स्थान-स्थान पर यह अनुभव होता है कि सुभद्राजी अपने भावों को एक वैक्यूम में रखकर फिर उन पर कविताएं नहीं रचती थीं, वरन उन ताजा संवदेनात्मक प्रतिक्रियाओं को सहज रूप से काव्य-महत्त्व प्रदान कर उन्हें पद्य-बद्ध कर देती थीं।

जीवन के विविध भावमय प्रसंगों के प्रति संवेदनशील आत्मा ने शिशुओं के प्रति भी अपनी अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है। केवल अपने स्वयं के पुत्र-पुत्रियों पर ही नहीं, बाह्य जीवन में सम्पर्कित होनेवालों पर भी। यह विशेषकर उनकी कहानियों से प्रकट होता है। हिन्दी के आधुनिक कवियों में कदाचित् दो ही कवि हैं जिन्होंने वात्सल्य रस की भी कविताएं की है। मैथिलीशरण गुप्त की यशोधरा में इसके कुछ सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। उनसे कवि की भाव-विदग्धता का परिचय होता है। कवि सहज सहानुभति और काव्य-पात्र में तादात्म्य के द्वारा किन भाव-चमत्कारों को उपस्थित कर सकता है, उसका एक नमूना वे वात्सल्य-रस की कविताएं है। परन्तु सुभद्राजी की वात्सल्य-रस की कविताएं उनके मातृ-भाव

से उत्पन्न हैं। उनमें उनका मातृ-गर्व झलक उठता है। साथ ही वह निस्पृह आनन्द जो बच्चों को देखकर होता है, जो सौन्दर्य-बोध शिशु-सुलभ भोलेपन के प्रत्यक्षीकरण से होता है, सुभद्राजी की कविताओं में यथेष्ट परिमाण में प्रस्तुत है। शैशव के विविध चित्र भी बहुत स्वाभाविकता के साथ उपस्थित किए गए हैं—

दादा ने चन्दा दिखलाया,
नेत्र नीरयुक्त दमक उठे,
धुली हुई मुस्कान देखकर,
सबके चेहरे चमक उठे।

अथवा—

मैं बचपन को बुला रही थी,
बोल उठी बिटिया मेरी,
नन्दनवन-सी फूल उठी,
यह छोटी-सी कुटिया मेरी।
'माँ ओ' कहकर बुला रही थी,
मिटटी खाकर आई थी,
कुछ मुंह में, कुछ लिए हाथ में
मुझे खिलाने लाई थी।
पुलक रहे थे अंग, दृगों में,
कौतूहल था छलक रहा,
मुंह पर थी आह्लाद लालिमा,
विजय गर्व था झलक रहा।
मैंने पूछा, 'यह क्या लाई?'
बोल उठी वह, 'माँ', काओ।
हुआ प्रफुल्लित हृदय खुशी से,
मैंने कहा, 'तुम्हीं खाओ।'

'बालिका का परिचय' नामक कविता गीति-भाव में भरी हुई है। (यह) सुभद्राजी की अत्यन्त सुन्दर कविताओं में है—

यह मेरी गोद की शोभा,
सुख-सुहाग की है लाली,
शाही शान भिखारिन की है,
मनोकामना मतवाली।
सुधा धार यह नीरस दिल की,
मस्ती मगन तपस्वी की,

जीवित ज्योति नष्ट नयनों की,
सच्ची लगन मनस्वी की।
अथवा 'इसका रोना' नामक कविता में—
ये नन्हें से ओंठ और यह,
लम्बी-सी सिसकी देखो,
यह छोटा-सा गला और,
यह गहरी-सी हिचकी देखो।

जीवन के प्रति वास्तविक संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं को काव्य-महत्त्व प्रदान कर उन्हें पद्य-बद्ध करनेवाली स्त्री-कवि की संवेदनशीलता का काव्य अपनी विशेषताओं के द्वारा हिन्दी के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करता है।

प्रगतिशील आलोचकों तथा लेखकों के लिए सुभद्राजी के काव्य में नवीन सामग्री है, आत्मसात् करने के लिए। विशेषकर उनकी काव्य-शैली में जीवन-प्रसंगों की भूमिका तथा कुछ कविताओं के नाटकीय तत्व के साहित्यिक महत्व का आकलन आवश्यक है। साथ ही सर्वप्रधान वस्तु है, जीवन के वास्तविक धरातल पर वाह्य स्थिति-परिस्थितियों से मानसिक संवेदनात्मक प्रतिक्रिया, और उसको काव्योचित महत्त्व-प्रदान का कार्य, जो हिन्दी के बहुत थोड़े कवियों ने किया है। प्रगतिशीलता की दृष्टि से इसका महत्त्व, जितना अनुभव किया जा रहा है, उससे कहीं बहुत अधिक है।

सुभद्राजी के काव्य में भावों के बहुत गहरे रंग नहीं है, पर भावों में गहराई है। स्वाभाविकता है, सरलता है। उनका काव्य-गुण जिन स्रोतो से उत्पन्न हुआ है, जिसके द्वारा यह स्वाभाविकता और सरलता काव्य-रस के अंगों के रूप में आई है, वे स्रोत केवल शैली के गुण नहीं है, भावों में गहरे रंग भरने अथवा हलके स्ट्रोक्स देने के प्रकार पर भी वे अवलम्बित नहीं हैं। वे स्रोत हैं जीवन के प्रति संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएं जो अपनी ताजगी, नवीनता और जीवन -वस्तु-सम्पर्क के कारण हृदय की गहराई को छू लेती है। आशा है हिन्दी के लेखक तथा आलोचक सुभद्राजी की अनलंकृति में सुन्दर काव्य कैसे उत्पन्न हो सका, इसका अध्ययन करेंगे। उनकी दृष्टि इस ओर खींचना ही इस लेख का मूल उद्देश्य है।

(हंस अप्रैल १९४८ में प्रकाशित)



सुभद्रा कुमारी चौहान कृत 'मुकुल': एक सिंहावलोकन

● डा० रामकुमार वर्मा

चेस्टरटन महाशय ने हार्डी की आलोचना करते हुए कहा था कि कला का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह हमें वस्तुओं की वास्तविक स्थिति का ज्ञान करा दे। वस्तुओं की सत्यता का दिग्दर्शन कराना ही कला का ध्येय है।

चेस्टरटन महाशय के व्यक्तिगत विचारों ने ही कदाचित् उन्हें ऐसा कहने के लिए बाध्य किया हो। वास्तव में कला का आदर्श सत्य से कुछ भिन्न है। यद्यपि आजकल के आलोचक 'सत्यं शिवं सुन्दरम' को ही कला की परिभाषा मानते हैं, पर वे यदि वस्तुओं के अन्तरतम स्थान में पहुँचने का कष्ट उठावें तो उन्हें अपनी परिभाषा परिष्कृत करनी पड़ेगी। मैं तो कला का अस्तित्व वहीं तक मानता हूँ, जहाँ तक वह किसी कलाकार के हृदयस्थ किसी भाव-विशेष से सम्पर्क रखती है। और जब वह भाव-विशेष प्रकाश में आता है तो निष्पक्ष एवं स्पष्ट रूप से। हम कलाकार से प्रत्येक स्थिति में यह निष्पक्ष भाव माँग सकते है, सत्य नहीं। उसका एक कारण हैष्ट। हम नहीं कह सकते कि वास्तविक सत्य का अस्तित्व और उसकी अन्तिम सीमा कहाँ है! जिसे हम आज सत्य का पूर्ण प्रमाण मानते है, सम्भव है, कल वही बालकों की क्रीड़ा का सामान मान लिया जाय। इसलिए कला को मैं वह विशद चित्र मानता हूँ, जिसमें कलाकार के हृदय की परिस्थिति स्पष्ट रूप से अंकित रहती है। जब कलाकार प्रेमी का रूप रखता है तो उसके सामने समुद्र उसकी मुस्कान के साथ मुस्कुराता है, वायु उसकी प्रेमिका का नाम उसके कानों में कह जाती है, तारे उसे सौहार्द की आँखों से देखते है। वही कलाकार जब वियोगी बन कर दुखी होता है तो वही समुद्र उसे उदास और निर्दय मालूम होता है, वही वायु उसके उच्छ्वासों की हँसी उड़ाती है, और वही तारे उसकी ओर समवेदना-रहित शून्य नेत्रों से देखते हैं। दोनों ही परिस्थितियाँ कला-रूप की पूर्ण परिचायिका है; दोनों ही में कला का अस्तित्व है पर उनकी सत्यता में कितना अन्तर है— कितना भेद है! यही कारण है कि कला में सत्य का उतना महत्त्व नहीं है, जितना परिस्थिति का। किसी कवि के हृदय में परिस्थिति की ही प्रधानता अधिक रहती है, सत्य की नहीं। हाँ, पहिले उस कवि, को पूर्ण कलाकार होना चाहिये।

परिस्थितियों की हिलोर में कवि की कविता इस प्रकार चलती है, जैसे कोई मन्त्र

मुग्ध। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि कविता से ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है जो सुननेवालों को मुग्ध करती है; बल्कि यह कि कविता स्वयं मन्त्र-मुग्ध की भाँति अग्रसर होती है। उसका प्रत्येक शब्द मतवाला होता है। उन शब्दों के चारों ओर ऐसे वातावरण की सृष्टि होती है कि उसमें मुग्धता के सिवाय और कुछ भी नहीं होता। शब्दों की ध्वनि में मुग्धता होती हैं और उनके पारस्परिक सम्बन्ध में भी। ऐसी स्थिति में उनके भीतर बैठे हुए भाव भी मतवाले होते हैं। कल्पना में भी मादकता रहती है और वह मदिराक्षी की भाँति मुग्ध-गति से चलती है।

उस कल्पना में कवि का अनुभव अन्तर्हित होता हैं वह अनुभव भी उत्कृष्ट रूप का होता है। उसे जानकर हम कुछ क्षणों के लिए स्वयं कवि बन जाते है। कवि ने जिस वस्तु का वर्णन किया,उसका भाव हमारे हृदय में उत्पन्न नहीं होता, बल्कि वह कविता स्वयं भाव का रूप बन जाती है। शब्दों में इतना जोर रहता है कि वे हमारे व्यक्तित्व को बदल देते हैं। कविता भाव को नहीं जगाती, बल्कि वह स्वयं भाव बन कर सामने आ खड़ी होती है। यह कविता का कितना उत्कृष्ट रूप है। लेकिन यह बात तब तक नहीं होती जब तक कि उन भावों में कवि का उन्माद और अनुभव उसी प्रकार न झूले, जिस प्रकार सजीले पालने में सुकुमार शिशु!

कविता के इन्हीं तीनों तत्वों में मैंने श्रीमती सुभद्रा कुमारी की कविता का शृंगार पाया है। हृदय की परिस्थितियों का कला-रूप, शब्दों और भावों में मादकता और जीवन का वास्तविक अनुभव, इन्हीं तीन धाराओं में सुभद्राजी की कविता का प्रवाह होता है। तीन धाराओं की यही त्रिवेणी हृदय में आनन्द आविर्भाव करती है।

सुभद्राजी की कविता में हमें हृदय की परिस्थितियों के जितने चित्र मिलते हैं, उन सबों में स्वाभाविकता, सरलता और सौन्दर्य है। ऐसे स्थानों में भावना हमें उसी प्रकार थपकी देती है, जिस प्रकार सरिता की लहर अपने तट को। उस थपकी से एक ध्वनि उठती है। उससे हृदय में एक प्रकार की अशान्ति होती है, पर होती है वह सुखदायिनी! हृदय कुछ क्षणों के लिए सिहर उठता है; भय से नहीं अशान्ति से! हम फिर आँखें बन्द कर उस मीठी अशान्ति में झूलने लगते है।

तुम मुझे पूछते हो 'जाऊँ?
मैं क्या जवाब दूँ तुम्हीं कहो!
'जा...' कहते रूकती हैं जबान;
किस मुँह से तुमसे कहूँ रहो?

मैं सदा रूठती ही आई,
प्रिय तुम्हें न मैंने पहिचाना।
वह मान बाण सा सा चुभता है,

अब देख तुम्हारा यह जाना!!

यहाँ हृदय की भावनाओं के स्वर्ण-पंखों ने व्यर्थ की उड़ान नहीं भरी। स्वाभाविकता है, सरलता है, सौन्दर्य है— हमें हृदय की गहरी से गहरी आकांक्षा का एक चित्र मिलता है, जिसमें परिस्थिति का बहुत सुन्दर रंग भरा गया हैं। प्रियतम के 'चलते समय' उठी हुई स्वाभाविक भावना ने हृदय को उस तीर से बेध दिया है, जिसमें मुधर पीड़ा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

सुभद्रा कुमारी की कविता में एक प्रकार की मादकता है, मुग्धता है, प्रत्येक शब्द बिजली से भरा गया है। उसी से भावना जीवित हो कर, हमारे हृदय में प्रवेश कर, हमारी भावना को जगाती है। हमारी भावना की शक्ति सम्पन्न होकर कविता की भावना से मिल जाती है और हमारे हृदय की भावनाएँ श्रीमती सुभद्रा कुमारी जी के हृदय की भावनाओं का रूप रख लेती है। ऐसी स्थिति में भावना भावना ही रहती है कल्पना का रूप नहीं रखती। वह पृथ्वी की वस्तु होती है आकाश की नहीं। उसमें संसार की मुग्धता को अपने पास बुलाने की शक्ति आ जाती है,'दिल में एक चुभन सी' पैदा हो जाती है।

बहिन आज फूली समाती न मन में।
तड़ित आज फूली समाती न घन में।।
घटा है न फूली समाती गगन में।
लता आज फूली समाती न वनं में ।।
कहीं राखियाँ हैं, चमक है कहीं पर,
कहीं बूँद है, पुष्प प्यारे खिले हैं।
ये आई है राखी, सुहाई है पूनों,
बधाई उन्हें जिनको भाई मिले है ।
मैं हूँ बहिन किन्तु भाई नहीं है ।
है राखी सजी पर कलाई नहीं है ।।
है भादों घटा किन्तु छाई नहीं है ।
नहीं है खुशी पर रूलाई नहीं है ।।

इन पंक्तियों के द्वारा कितने भावों की मादकता को, कितने विचारों के पागलपन को, एक बार ही, एक ही भावना से बाँधकर उत्सुकता के उदधि में फेंक दिया है!! प्रत्येक शब्द जीवित होकर बोल रहा है, हृदय प्रफुल्लित होकर आलोकित हो जाता है, मानों उस पर हीरक-ज्योति की रश्मियाँ एक साथ पड़ी हों।

इस मादकता में अनुभव का मूल्य अधिक है। श्रीमती सुभद्राजी ने असहयोग और सत्याग्रह में विशेष भाग लिया है। वे राष्ट्रीय भावों से ओत-प्रोत है। उनके हृदय में मातृ-भूमि और देश के प्रति जो विचार हैं और फलत: उन्हें उन विचारों से जो अनुभूति हुई है, उसका प्रतिबिम्ब स्पष्ट-रूप से उनकी कविताओं में देखा जाता है।

उनकी अधिकांश कविताएँ राष्ट्रीय है, क्योंकि उनका जीवन ही राष्ट्रीय भाव-मय है। सच्चे अनुभव ने उनकी इन कविताओं को अधिक स्पष्ट और हृदयग्राही बना दिया है। राष्ट्रीय कविताओं की उत्कृष्टता की दृष्टि से मैं इनकी कविताओं को 'एक भारतीय आत्मा' की कविताओं से किसी प्राकर हीन नहीं समझता। एक बात और है। इन्होंने अपनी राष्ट्रीय कविताओं में वीर-भाव के साथ ही साथ भावुकता भी इस प्रकार भर दी है कि उन कविताओं का मूल्य वस्तुत: देश के मूल्य के बराबर हो जाता है। 'मातृ-मन्दिर' में साहित्यिकता और देश भक्ति की कैसी मनोहर गंगा-जमुनी है। एक ओर यदि —

देव वे कुञ्जें उजड़ी पड़ीं, और वह कोकिल उड़ ही गई।
हटायीं हमने लाखों बार, किन्तु वे घड़ियाँ जुड़ ही गई।।
है तो दूसरी ओर—
विजयिनी माँ के वीर सुपुत्र, पाप से असहयोग ले ठान।
गुँजा डालें स्वराज्य की तान, और सब हो जावें बलिदान।।

की दर्प-भरी ध्वनि गूँजती है। इन्हीं दोनों भावों के मिश्रण ने सुभद्राजी की कविता को बहुत ऊँचा उठा दिया है। 'झाँसी की रानी' कविता में 'बुन्देलों' और 'हरबोलों' के बदले प्रत्येक शब्द वह पुरानी कहानी इतने तीव्र भाव से कहता है कि हृदय तड़प उठता है, विचार-धारा में तूफान आ जाता है, आकांक्षा अशान्ति के झकोरों में झूलने लगती है। और ताल देकर समीप की वायु भी गूँज उठती है—

खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

देश भक्ति के भावों ने सुभद्रा कुमारीजी को वह शक्ति दे दी है, जिससे वे देश की अशान्ति की चित्रावली में मनोहर रंग भरती है। ऐसा रंग, जिसमें उनके आँसू का पानी घुला हुआ है। 'विस्मृति की स्मृति' में हृदय की अशान्ति ने कितने सुन्दर व्यंग का का रूप लिया है—

उधर तुम कहलाते गोपाल, इधर ये गौएँ दिन-दिन कटें।
कहो, तुम ही कह दो गोपाल, तुम्हें अब कौन नाम से रटें।।

प्रेम में भी उनकी अनुभूति कुछ कम गहरी नहीं है। साधारण घटनाओं में भी वे जीवन का सौन्दर्य देखती हैं। प्रेम की चुटकियाँ और व्यंग बहुत ही हृदय -ग्राही है। दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे—

बहुत दिनों तक हुई परीक्षा, अब रूखा व्यवहार न हो।
अजी बोल तो लिया करो तुम चाहे मुझ पर प्यार न हो।।

पूजा और पुजापा प्रभुवर, इसी पुजारिन को समझो।
दान-दक्षिणा और निछावर, इसी भिखारिन को समझो।।

मुझे भुला दो या ठुकरा दो कर लो जो कुछ भावे।
लेकिन यह आशा का अंकुर नहीं सूखने पावे।।
कर के कृपा कभी दे देना शीतल जल के छींटे।
अवसर पाकर वृक्ष बने यह, दे फल शायद मीठे।।

कितनी विदग्धता है, प्रेमी हृदय की कितनी सच्ची अभिव्यक्ति है! इसी प्रकार इनकी सभी कविताओं में कुछ-न-कुछ चमत्कार और कवित्व है। इस पुस्तक के पाठक स्वयं इसका अनुभव करेंगे।

इस कविता-संग्रह में सर्वत्र सरलता का साम्राज्य है। इस सरलता से कहीं-कहीं हानि भी हुई है। कुछ कविताएँ बहुत ही साधारण हो गई है। 'शिशिर -समीर' में कोई नूतनता नहीं है, उसी प्रकार 'जल-समाधि के लम्बे विस्तार में भावना बिखर सी गई है। कल्पना का विकास उच्छृंखल हो कर सौन्दर्य-सीमा के भीतर नहीं आ सका।

हम सुभद्राजी की कविता का आदर करते हैं। उसमें मादकता है, सौन्दर्य है और हृदय की अनुभूत परिस्थितियों की मनोहर झाँकी है। सुभद्राजी हिन्दी-साहित्य की कोकिला हैं, जो भावना की ऊँची डाल पर बैठ कर गाती हैं। उस समय हृदय-मुकुल विकसित हो उठता है।

(१४ नवम्बर सन् १९३०)



बुंदेले हर बोलों के मुंह हमने सुनी कहानी थी

● डॉ० कृष्णदत्त पालीवाल

हम राजनीति की छलनाओं के अधीन होकर जी रहे हैं। इन राजनीतिक छलनाओं ने जातीय स्मृति को मिटाने का एक अभियान ही चला रखा है। स्मृति को मिटाने का प्रयास हमेशा ही दुर्भाग्यपूर्ण होता है— चाहे हम राजनीति के कितने ही भ्रष्ट चक्रव्यूह में घिरे हों। साहित्य जीवन को 'जानने' का तर्क प्रस्तुत करता है और यह तर्क सांस्कृतिक अस्मिता के स्तर पर भीतर-बाहर झाँकने का एक कीमती मौका प्रदान करता है। हमें भूलना नहीं चाहिए कि हिन्दी प्रदेशों के नवजागरण और सुधार युग को सुभद्रा कुमारी चौहान ने अपने रचना कर्म से जन-मन तक पहुँचाने का काम निर्भयता से किया है। यह सुभद्रा जी का जन्म शतवार्षिकी है। और यह वर्ष स्वाधीनता आंदोलन की स्मृतियों को जागृत करने की पावनता-जीवन-विवेक देता है। इस पावनता जनित विवेक के स्मृति यज्ञ में तिलक ओर गांधी युग धड़क रहा है। सुभद्रा जी सत्य-ग्रह-युग के ऐसे रचनाकारो में रही हैं। जिनकी जातीय-स्मृतियों-परंम्पराओं की जड़ों को खोजती और उन्हें रचना कर्म से नया अर्थ-संदर्भ देती हुई, अतीत की न जाने कितनी परतें खोलने लगती है।

नयी पीढ़ी तो सुभद्रा कुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, केशव प्रसाद पाठक, भवानी प्रसाद तिवारी, बच्चन और भगवती चरण वर्मा को प्रायः नहीं जानती या बहुत कम जानती है। जबकि इन्हें जानना चाहिए । इसलिए जानना चाहिए कि इन सभी के रचना कर्म में स्वाधीनता ओंदोलन के दिनों की वह प्रेरणा व्याप्त है और इस प्रेरणा में एक मादक सुगंध है जो स्वाधीनता संघर्ष के दिनों के प्रति चौकन्ना और दृष्टि सम्पन्न बनाती है। यह रचना कर्म निर्जीव चमत्कारवादी फार्मूलों से पैदा नहीं हुआ है इसमें आजादी के लिए किए गए संघर्ष का वह मैदान है जो सवर्जनशीलता के सब जोखिमों और खतरों का सामना करते हुए सृजनशील हो जाता है। आजादी के आसपास पैदा हुई एक पीढ़ी जो अपने सपनों के मुरझाते दिनों के साथ बूढी हो रही है— उसे सुभद्रा कुमारी चौहान की कवितायों- कहानिओं की स्मृति अभी भी ताजा स्वाद देती हैं। वे अनुभव करते हैं कि वे अभी भी 'झांसी की रानी', 'वीरों का कैसा हो वसंत', जैसी अमर और सदाबहार कविताओं के साथ अंतरंग संवाद स्थापित किए हुए हैं। उनकी कविताओं-कहानियों ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की पीढ़ी की कच्ची उम्र की मिट्टी पर एक ऐसी अनुपम प्रतिमा गढ़ी कि उस प्रतिमा का सौंदर्य वर्णन कर पाना कठिन है। हम लोगों

ने झांसी की रानी कविता के अर्थ-गूदे का गहनार्थक स्वाद तो तब नहीं पाया। लेकिन अपने अनुसंधान के दिनों में इस कविता से टकराने का फिर मौका मिला तो पाया कि इस कविता का अर्थ संलिष्ट और समाज-समय के बहुमुखी यथार्थ से निर्मित हुआ है— इतना ठोस यथार्थ जैसा हीरे का क्रिस्टल हो। पूरी कविता मुर्दा मर्यादाओं वाली नैतिकता को चुनौती देती है और नारी के भीतर छिपी 'दुर्गा शक्ति' से साक्षात्कार कराती है। क्या है झांसी की रानी का सत्य? सुभद्रा कुमारी चौहान द्वारा रची गई इस कविता के 'आंतरिक सत्य' से आज की स्थितियों से अधमरा पाठक उत्तर-आधुनिक युग में साक्षात्कार कैसे कर सकता है। क्योंकि जिन सामाजिक संरचनाओं (सोशल फारमेशन्स) से इस कविता की निर्मित हुई है उन सब को पूरी अर्थ व्यंजनाओं और सांस्कृतिक अनूगूंजों के साथ आज कैसे ग्रहण किया जा सकता है। फिर शब्द का सत्य इधर की पीढ़ी में जाने कितनी बार झुठलाया गया है। बीसवीं शताब्दी की विचारधाराओं ने जिस मानव सत्य को लेकर महा-आख्यान गढ़े थे वे आज धूल में ध्वस्त हो चुके हैं। फिर सुभद्रा कुमारी चौहान का कृतित्व तो आजादी आन्दोलन के प्रथम तीन-चार दशकों (१९२०—१९४८) तक फैला हुआ है। जिसे हम छायावाद के प्रथम दौर में न रखकर छायावाद के दूसरे दौर मे स्वच्छंद काव्यधारा में रखते है।

आज की नयी उत्तर-आधुनिक पीढ़ी उनकी केवल एक ही कविता का नाम जानती है और वह कविता है—'झांसी की रानी'। आज यह कितने दु:ख की बात है कि हिन्दी के आलोचकों ने (केवल कुछ अपवादों को छोड़कर जैसे ग०मा० मुक्तबोध का सुभद्रा कुमारी चौहान के काव्य पर एक लेख) सुभद्रा जी के रचना कर्म को स्वाधीनता आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में देखने-समझने की कोशिश ही नहीं की। स्वाधीनता आंदोलन की संपूर्ण लय और लगाव को 'राष्ट्र', 'राष्ट्रीयता' और 'राष्ट्रवाद' से जोड़कर भारतीय संदर्भ में महसूस करने की जरूरत थी— उससे वंचित रखा गया। सुभद्रा कुमारी चौहान की देशभक्तिपरक कविताओं का संग्रह 'मुकुल' के भीतर से गुजरने पर ध्यान में आता है कि क्या मैं अपने देश से प्यार करता हूँ। उसे जिसे देश की संज्ञा दी जाती है— मात्र मिटटी, नदी पहाड़ है। किसे कहें देश "भारत दैट इज इंडिया' जिसकी संस्कृति सभ्यता, परंपरा इतिहास, धर्म और दर्शन, साहित्य और देशभक्ति सभी को पश्चिमवाद से घेर कर नष्ट किया जा रहा है। क्यों हमारे उत्तर-आधुनिक समाज के बुद्धिजीवियों को देशभक्तिपरक कविताओं से झिझक महसूस होने लगी है। हालत यह है कि 'आधुनिक बुद्धिजीवी' के लिए तो देशप्रेम एक गाली है, अपशब्द है— सतही भावुकता है— भारत-व्याकुलता है। स्वतंत्रता के छप्पन वर्षो के बाद जो पश्चिमी संस्कृति का नकलची और औपनिवेशिक गुलामी की जड़ों को पहले से ज्यादा तगड़ा करता हुआ बुद्धिजीवी निर्मित हुआ है वह अपनी साहित्यिक-सांस्कृतिक परम्पराओं से लगभग कट चुका है। उसे भारतेंदु, श्रीधर पाठक, माखनलाल चतुर्वेदी, ज़यशंकर प्रसाद, महादेवी और सुभद्रा कुमारी चौहान की

कविता की प्रासंगिकता ही समझ में नहीं आती । इसका कारण है कि 'भारतीय होने का अर्थ' उससे खो गया है और भारतीय जीवन की कालिदासीय-भवभूतीय लय से वह क्रमशः दूर हो गया है। 'आत्म' और 'अन्य' के भेद को भुलाकर 'मानुष-भाव' जो हमने कमाया था और हमारे 'मैं' को जो 'हम' करता था— वहा अखंडता का भाव कहां चला गया। इसी अखंडता के भाव में देश प्रेम का वह चिरन्तनभाव था जिसे हमारी संस्कृति ने हर कीमत पर बचाए रखा था। इसी भाव ने हर संकट की घड़ी में 'बूढे भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी' का अर्थ जाना था। मानव अन्य मूल्यों को महत्व तो देता है। लेकिन उसके लिए सबसे बड़ा और कीमती मूल्य है— स्वतंत्रता। इस मूल्य की रक्षा के लिए युद्ध लड़े जाते हैं और इसी मूल्य के लिए पीढ़ियां बलिदान देती है। हम लक्ष्मीबाई की समाधि से 'स्वतंत्रता' का एक विराट संदर्भ पाते हैं और गाते है—'इस समाधि में छिपी हुई है एक राख की ढेरी। जलकर जिसने स्वतंत्रता की दिव्य आरती फेरी।' जो भी जाति अपने मिथकों—प्रतीको आख्यानों के ये गीत गाना भूल जाती है वह गुलाम हो जाती है और उसका अस्तित्व और व्यक्तित्व धूल में मिल जाता है। भारतेंदु, प्रसाद, निराला, माखनलाल, सुभद्रा कुमारी चौहान के सृजन से गुलाम भारत में जो मनोभूमिका निर्मित हुई थी उसमें हर कीमत पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद से मुक्त होने का विचार प्रमुख था। इसी विचार की प्रेरणा शक्ति से सुभद्रा कुमारी चौहान ने गांधी जी के असहयोग आंदोलन, झंडा आंदोलन में सक्रिय भाग लिया और जेल की यातनाएं झेली। वे उत्तरी भारत की पहली महिला सत्याग्रही थीं जो झंडा आंदोलन में जेल गईं। काव्य के क्षेत्र में सुभद्रा जी के प्रेरणा गुरू माखनलाल चतुर्वेदी और माधवराव सप्रे थे। चतुर्वेदी जी द्वारा संपादित पत्र 'कर्मवीर' में उनकी कविताएं छपती थीं और पूरा मध्य प्रदेश उनकी कविताओं में अपने भावों-संकल्पों की अभिव्यक्ति पाता था। उनकी कविता की इस कमाल भरी सहज सादगी को भाव-भाषा के स्तर पर भवानी भाई, गिरिजाकुमार जैसे कवियों ने अपनाया।

सुभद्रा जी और माखनलाल चतुर्वेदी की कविताएं शक्ति बाण थी। विजय देव नारायण साही ने 'लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस शीर्षक लेख में इन कवियों की कविताओं को जवानी का काव्य कहा है। इस जवानी के काव्य में मधुर-विद्रोह के बीज है और हंस कर फांसी पर चढ़ जाने की मस्ती-फक्कड़पन,दीवानगी। १८५७ के प्रथम स्वाधीनता सग्राम में अमीर और गरीब एक साथ कंधे से कंधा मिलाकर लड़े थे। सुभद्रा जी ने 'झांसी की रानी' कविता में इसी सच को इस तरह व्यक्त किया- 'महलों ने दी आग झोपड़ी ने ज्वाला सुलगाई थी। यह स्वतंत्रता की चिंगारी अंतर्मन से आई थी, आचार्य रामचंद्र ने सुभद्रा कुमारी के इस सृजन-संकल्प को माखनलाल चतुर्वेदी, केशवप्रसाद पाठक और सुभद्रा जी की कविताओं के संकलन 'त्रिधारा' की कविताओं से पहचान लिया था। आचार्य ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास मे लिखा है—'कलावाद के

प्रभाव से सौंदर्यवाद का जो चलन यूरोप के प्रभाव से हिन्दी में हुआ उसका कोई प्रभाव सुभद्रा कुमारी चौहान पर नहीं है। कल्पना के आरोप पर जोर देने वाला 'कलावाद' उन्हें मान्य नहीं है। सुभद्रा जी के काव्य सृजन में कृष्ण की बहिन होने का भाव कभी भूलता ही नहीं। भारतेंदु ने 'सखा प्यारे कृष्ण' को कहा था तो माखनलाल ने भी आजादी के आदोंलन में कृष्ण को ही परम आराध्य माना। चतुर्वेदी जी ने कृष्ण को ही 'वेणु ला गूंजे धरा में सलोने स्याम' तथा 'कृष्णार्जुन युद्ध' में याद किया। गांधी जी 'मोहन' थे ही और प्रेरणा रूप भी। इसी कृष्ण को सुभद्रा जी अपनी कविताओं में पुकारती रही है। उनकी कविताओं की कृष्ण-परंपराएं ही 'वीरों का कैसा हो वसंत' गाती हुई मिलती हैं।

बहुत कम लोग जानते हैं कि सुभद्रा जी ने नारी की व्यथा कथा को केन्द्र बनाकर बहुत सी कहानियों का सृजन किया है। इन कहानियों में एक निरंतर संघर्षमयी मर्दानी औरत की मौजूदगी है। 'गुलाब सिंह' कहानी में झंड़ा-आंदोलन की पृष्ठभूमि है—'पर बादशाह का हुक्म था कि जुलूस न निकले, झंड़ा न निकले। शहर में आतंक छा गया। बड़ा जालिम था बादशाह। बड़ा आया बादशाह! क्यों न निकले जुलूस? क्यों न निकले झंडा? भाई से बहन ने कहा। यह कहानी 'झांसी की रानी' कविता की काव्य पंक्ति याद दिला देती है— 'कानपुर के नाना की मुहबोली बहन छबीली थी। अपनी कहानी 'गुलाबसिंह ' पर उसकी अपनी टिप्पणी देखिए— 'यह कहानी कहां की है? किसकी है? हम क्या बतावें। यह फ्रांस की राज्य क्रांति की हो सकती है। यह रूस की राज क्रांति की हो सकती है। यह हिन्दुस्तान की सन् ४२ की क्रांति भी हो सकती है, क्योंकि यह घटना चिरंतन है, अनंत है। यह जैसे पेरिस मे, मास्कों मे, वैसे जबलपुर में हो सकती है।' जबलपुर लेखिका का कार्यक्षेत्र -कुरूक्षेत्र रहा। पूरी कहानी में प्रतीक भरे पड़े हैं। उनकी कहानियां पुरूष अत्याचार से मुक्ति के सपने देखती है— जैसे 'तीन बच्चे' कहानी। इतना ही नहीं शायद ही कोई कहानी हो जिसमें सत्याग्रह, जेल, हिंसक दंगे, हिन्दू-मुसलमानों की सांप्रदायिक एकता का भाव-बिंब न हो। भारत का स्वाधीनता आंदोलन कविताओं की तरह उनकी कहानियों की भी पृष्ठभूमि है। 'कल्याणी' ,'मछुए की बेटी', 'कैलासी नानी', जैसी कहानियों में नारी मन का विस्तार है। आज उनके तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हैं— 'बिखरे मोती, 'उन्मादिनी' और 'सीधे सादे चित्र। इनमें ज्यादातर कहानियों नारी प्रश्नों से बनी है। सुभद्रा कुमारी का सृजन कर्म आज भी हिन्दी आलोचना में विश्लेषण-विमर्श की प्रतीक्षा कर रहा है। जबकि हमारे राष्ट्रीय आंदोलन की चेतना को इस रचना कर्म ने नया अर्थ संदर्भ दिया है। उनका रचना कर्म हमें अंधेरे से स्मृति के आलोक लौटाता है। यह बात भूलने के विरूद्ध है।

(दैनिक हिन्दुस्तान से साभार)

❐

सुभद्रा कुमारी चौहान का कहानी साहित्य : नारी की दशा एवं दिशा

● डॉ० जगत सिंह बिष्ट

सुभद्रा कुमारी चौहान मूलत: हिन्दी साहित्य के छायावाद की राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक कविता धारा की कवयित्री के रूप में जानी जाती हैं किन्तु उन्होंने कहानियां भी कम नहीं लिखी हैं। इनके दो कहानी संग्रह "बिखरे मोती (१९३२) और उन्मादिनी (१९३४)"[१] अल्पायु में ही प्रकाशित हो चुके थे। कहानी लेखिका के रूप में वे प्रेम चन्द युग के अन्तर्गत आती हैं। इनकी कविताओं की अपेक्षा कहानी साहित्य में सामाजिक यथार्थ अधिक व्यक्त हुआ है। यद्यपि उनकी कहानियों के केन्द्र में नारी है, तथापि अपने समय की नारी की सामाजिक प्रस्थिति के निरूपण में सुभद्रा की कहानियों में विविध प्रकार के सामाजिक सरोकार भी व्यक्त हुए हैं। कहने का आशय यह है कि इन्होंने कठिनाइयों से संघर्षरत नारी के जीवन की त्रासदी का चित्रण तो किया ही है। इसके साथ-साथ युग सापेक्ष सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक प्रंसगों का भी पर्याप्त उद्घाटन किया है। इनकी कहानियों में चित्रित नारी विविध वर्गों से संबद्ध है। फिर भी प्रत्येक वर्ग की नारी विविध प्रकार की सामाजिक और पारिवारिक कठिनाइयों से जूझती या तो समझौता करती या फिर आत्महत्या करती दिखाई देती है। उन्हें अपने समय की नारी के जीवन की जितनी समझ है उतनी उनके समकालीन कहानीकारों में नहीं दिखाई देती है। इनकी कहानियों में चित्रित नारी चरित्र पर्याप्त प्रतिभा संपन्न, विचारवान एवं सजग है। विविध प्रकार की कठिनाइयों को झेलती इनकी कहानियों के नारी चरित्र या तो बहुएं हैं या नवयौवनाएं। जो सास, पति और ननद के शक, उपेक्षा तथा तथाकथित संभ्रात व्यक्तियों की काम चेष्टाओं से अपरिमित कष्ट पाती दिखाई देती हैं। फिर भी वे नारी चरित्र अपने परिवार, समाज और देश के प्रति पर्याप्त सजग भी हैं। तमाम प्रकार की पारिवारिक कठिनाईयों से घिरी होने पर भी, उनमें देश प्रेम की भावना और मानवीयता कूट-कूट कर भरी हुई है।

सुभद्रा कुमारी चौहान की 'भग्नावेश', 'मंझली रानी', 'दृष्टिकोण', 'कदम्ब के फूल', 'आहुति', 'असमंजस', 'ईर्ष्या' , 'वैश्या की लड़की', 'बड़े घर की बहू' पारिवारिक पृष्ठभूमि से संबद्ध कहानियां है। इन कहानियों के नारी चरित्र पर्याप्त सुघड़, उदार, सुशील, सहनशील, प्रतिभासंपन्न, विचारवान हैं फिर भी बहू के रूप में, ये अपने परिवार के भीतर सास, ननद, जेठानी एवं पति की उपेक्षा एवं शक से घोर यंत्रणा पाती हैं। इन कहानियों में कतिपय नारी चरित्र तो अपने विवेक एवं सहनशीलता के कारण परिस्थितियों से समझौता करती दिखाई देती हैं किन्तु कुछ घर से निष्कासित होकर दर-

दर भटकने के लिए विवश हो जाती हैं। इनकी कहानियों में 'दृष्टिकोण' कहानी की निर्मला जैसी अत्यन्त मानवीय गुणों से युक्त नारी चरित्र भी है। जो अपनी सास की रूढिवादिता एवं पति की निर्दयता से टूटकर अपने ही घर में विवशता की यंत्रणा झेलती है: "तुम्हारी ही तरह मैं भी बिना घर की हूँ बहिन यदि इस घर में मेरा कुछ भी अधिकार होता तो मैं तुम्हें इस कष्ट के समय कहीं भी नहीं जाने देती! क्या करूँ विवश हूँ।"[२] इसके अतिरिक्त सुभद्रा की 'मंझली रानी' की कहानी की तारा जैसी नारी चरित्र भी है। जो सर्वगुण संपन्न होने के बावजूद अपनी जेठानी की ईर्ष्या के कारण घर से निकाली जाती है और उसका पिता भी सामाजिक विवशताओं के कारण, उसे अपने घर में शरण नहीं दे पाता। फलत: वह दर-दर भटकने के लिए विवश हो जाती है। इस कहानी में ससुराल एवं पिता के घर से निष्कासित सौन्दर्य एवं यौवन से भरपूर तारा की विवशता का मार्मिक अंकन हुआ है: "मैं जवान थी, सुन्दर थी, फटे चिथड़े और मैले कुचैले वेश में भी मै अपना रूप नहीं छिपा सकती और मेरा रूप भी हर जगह मेरा दुश्मन हो जाता।"[३]

सुभद्रा कुमारी चौहान की 'अभियुक्ता', 'सोने की कंठी', 'अंगूठी की खोज', 'कल्याणी', 'कान के बुंदे', 'देवदासी' एवं 'दुनिया' कहानियों की नारी चरित्रों की अंतर्मन की पीड़ा एक जैसी है। यद्यपि इन कहानियों के नारी चरित्र चरित्रवान एवं सर्वगुण संपन्न है। फिर भी समाज के तथा कथित संपन्न एवं संभ्रात व्यक्तियों की काम पिपासा के कारण या छली जाती हैं या फिर छले जाने की पीड़ा को झेलती हैं। इनकी 'अभिव्युक्ता' कहानी की चन्नी जैसी नारी चरित्र भी है जो बेसहारा होकर, अपने चरित्र के प्रति पर्याप्त सजग है। किन्तु वह बैरिस्टर गुप्ता जैसे संभ्रांत व्यक्ति से, अपने को बचा तो लेती है किन्तु इसके बदले उसे अनावश्यक कानूनी दांवपेंच झेलने पड़ते है। इसके अतिरिक्त 'दुनिया' कहानी की मिसेज चोपड़ा जैसी संभ्रांत नारी चरित्र भी है जिनकी सहृदयता एवं सद्व्यवहार को समाज के संभ्रात व्यक्ति अनुचित अर्थ देकर, उसकी छवि को कलंकित करने की कोशिश करते हैं। वस्तुत: इन कहानी रचनाओं में जहाँ एक ओर भारतीय समाज में नारी जीवन की कठिनाइयों एवं विविध प्रकार की विडम्बनाओं का यथार्थ व्यक्त हुआ है। वहीं पुरुष प्रधान भारतीय समाज में नारी विषयक अस्वस्थ दृष्टिकोण का भी निरूपण हुआ है। इसीलिए सुभद्रा कुमारी चौहान ने अपनी 'मंझली रानी' कहानी में, नारी चरित्र के माध्यम से नारी जीवन की नियति के यथार्थ को व्यक्त किया है:"आह! यह क्या कह डाला मैंने मित्र? भला किसी स्त्री का कोई पुरुष भी मित्र हो सकता है। और यदि हो भी गया तो क्या समाज इसे बर्दाश्त करेगा।"[४] वस्तुत: कथानायिका का यह कथन अकारण नहीं है बल्कि जीवन के गहरे यथार्थ भोग से उपजा है। अत: अपने अंदर नारी विमर्श की पर्याप्त सामग्री को समेटा हुआ है। ऐसी सामग्री जिसका आदि ही आदि है अंत नही। नारी क्या नहीं है? प्रथम वह, जिससे स्वयं पुरुष उत्पन्न होता है नारी जिसे अपने कोख में धारण करने से लेकर बलिष्ठ एवं संपन्न पुरुष बनाने तक न जाने कितनी कठिनाइयों को झेलती

है और जब वह शक्तिसंपन्न हो जाता है तो उस जैसे पुरुष के द्वारा 'अभिव्युक्त' कहानी की चुन्नी, 'अंगूठी की खोज' कहानी की बृजांगना जैसी न जाने कितनी माताएं और बहिनें छली जाती हैं। छली जाने के बाद कुछ तो आत्महत्या करती हैं 'अंगूठी की खोज' कहानी की बृजांगना की भांति या फिर 'कान के बुंदे' कहानी की कमला की भाति गहरे सोच में डूबती हैं क्या मिलता है? नारी के पुरुष मित्र से, जाहिर है 'कान के बुंदे' की कमला की भांति अपने सतीत्व के समर्पण के बदले समाज की धिक्कार, यह धिक्कार भी तब,जब बात खुल जाए। अन्यथा सोने की कंठी के स्थान पर मुलम्में, एक गहरा पछतावा और अफसोस जबकि वह बेचारी अपने गरीबी और कंठी के बदले, अपना बहुमूल्य सतीत्व राय साहब को सौंप आई थी। इसीलिए तो सुभ्रदा की ''नारी हृदय' कहानी की सुशीला अपने पति से ठीक ही कहती है : ''तुम्ही क्या पुरूष मात्र ही कठोर होते है।''[५] वस्तुत: पुरूष मात्र का यह कठोर होना ही सुभद्रा की अधिकांश कहानियों की नारी चरित्रों की यंत्रणा का कारण बनता है। क्योंकि 'नारी हृदय' कहानी की नारी चरित्र भली-भांति जानती है: ''परमात्मा ने स्त्री जाति के हृदय में इतना विश्वास, इतनी कोमलता और इतना प्रेम शायद इसीलिए भर दिया है कि वह पग-पग पर ठुकरायी जाये।''[६] 'मंगला' कहानी की नवयुवती मंगला इसीलिए तो विवाह नहीं करना चाहती है वह विवाह का विरोध करती है उसका मानना है: ''विवाह के बाद पुरुष, पत्नी को अपनी संपत्ति समझने लगता है। पति चाहे जितना पढ़ा-लिखा विद्वान हो पब्लिक प्लेट-फार्म पर खड़ा होकर स्त्री के समस्त अधिकार और स्वतंत्रता देने के विषय में चाहे जितनी लम्बी स्पीचें झाड़े पर घर के अंदर पैर रखते ही पुरुष हो जाता है।''[७] वस्तुत: मंगला की यह सोच अकारण नहीं है बल्कि सामाजिक यथार्थ का प्रमाण है। इसी प्रकार 'पवित्र ईर्ष्या' कहानी की विन्नों जैसी सुशील सर्वगुण संपन्न नारी चरित्र भी पति के द्वारा कम कष्ट नहीं पाती है। रक्षा बंधन का त्यौहार है। वह अपने मुंह बोले भाई को राखी बांधने के लिए उसके पास जाना चाहती है किन्तु पति तो निरंकुश है। वह दोनों के पवित्र रिस्तों के संबंध में अनावश्यक शक पाले हुए है। इसीलिए वह पत्नी की हार्दिक इच्छा के प्रति संवेदनशील नहीं है। स्त्री के पुरूष मित्र के प्रति विन्नो की यह सोच ठीक ही तो है: 'विवाह के बाद स्त्री कितनी पराधीन हो जाती है। उसे पति की इच्छाओं के सामने अपनी इच्छाओं और मनोवृत्तियों का किस प्रकार दमन करना पड़ता है।''[८] अभियुक्ता कहानी में भी नारी विमर्श की काफी गुंजाइश है। कहानी के प्रारंभ में नारी जीवन से संबंधित कुछ रोचक एवं वास्तविक बातें व्यक्त हुई है: ''एक तो वैसे ही, किसी स्त्री के अदालत में आते ही न जाने कहाँ से अदालत के आसपास मनुष्यों की भीड़ लग जाती है और यदि कहीं स्त्री सुंदर हुई, फिर तो भीड़ के विषय में कहना ही क्या है? आदमी इस तरह टूटते हैं जैसे उन्होंने कभी कोई स्त्री देखी ही न हो।''[९] वस्तुत: इस प्रकार की सोच बनावट भी नहीं है बल्कि भारतीय समाज में नारी के प्रति निकृष्ट सोच एवं समझ का यथार्थ दस्तावेज है। इतना तो निश्चित

है कि सुभद्रा की कहानियों में नारी सास, ननद, जेठानी, पति और समाज के संभ्रांत व्यक्तियों के द्वारा प्रताड़ित होने पर, आस-पड़ोस से लेकर समाज का कोई भी व्यक्ति उसके पक्ष में खड़ा नहीं होता है। बल्कि उसे यह समाज और अधिक प्रताड़ित करता दिखाई देता है। 'मंझली रानी' की तारा, ससुराल से निष्कासित होकर जब अपने पिता के घर पहुंचती है तो उसका पिता पुत्री को शरण देने के बजाय बिना सोचे-समझे खरी-खोटी सुनाकर घर की देहरी से धक्का दे देता है।"[१०] दूर रह चांडालिन! निर्दोष ही तू होती तो इतना यह बवंडर ही क्यों उठता? उन्हें क्या पागल कुत्ते ने काटा था जो बैठे —बैठाए अपनी बदनामी करवाते? जा जहां जगह मिले समा जा। मेरे घर में तेरे लिए जगह नहीं है। क्या करू अंग्रेजी राज न होता तो बोटी-बोटी काटकर फेंक देता" कहने की आवश्यकता नहीं है कि एक अबला की इससे अधिक दुर्गति और क्या हो सकती है? वस्तुत: पिता की अपनी पुत्री के प्रति बरती गई निष्ठुरता भी अकारण नहीं है: "पंडित राम भजन अपने घर बेटी को रखकर जात में अपना हुक्का-पानी बंद करवायेंगे।"[११] कुल मिलाकर सुभद्रा जी ने इस कहानी के द्वारा अपने समय में नारी की दशा के यथार्थ को व्यक्त तो किया ही है इसके अतिरिक्त भारतीय समाज की हृदयहीनता और विवेक शून्यता का भी उद्घाटन किया है। इसीलिए तो समाज से बहिष्कृत तारा चुनौती देती हुई कहती है: "खैर न तो मुझे समाज से कुछ लेना-देना है, न समाज से कुछ सरोकार। समाज ने तो मुझे दूध की मक्खी की तरह निकालकर दूर फेंक दिया है फिर मैं ही क्यों समाज की परवाह करूं।[१२] सुभद्रा की "बड़े घर की बातें" कहानी की नारी चरित्र फूल पति की मार से मृत्यु के बाद मुहल्लेवासी असली वाकये से वाकिफ होते हुए भी फूल के पक्ष में खड़े न होकर उसके प्रति किसी प्रकार का अफसोस और सहानुभूति व्यक्त नहीं करते है बल्कि नारी के प्रति निम्न सोच के द्वारा जड़ सामाजिक होने का प्रमाण प्रस्तुत करते है: "उंह मर गई तो मर जाने दो स्त्री ही तो थी कल तीसरी आ जाएगी।"[१३] सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानियों की नारी चरित्र विविध प्रकार की सामाजिक कठिनाइयों से ग्रस्त होने पर भी पर्याप्त विचार संपन्न है और यही वैचारिकता, उन्हें प्रगतिशील बनाती है। 'मंझली रानी" की तारा, 'परिवर्तन' कहानी की चम्पा, 'दृष्टिकोण' की निर्मला, 'कदम्ब के फूल' की भामा, 'अनुरोध' कहानी की वीणा, 'उन्मादनी' की सोना, 'असमंजस' की कुसुम, 'नारी हृदय' की प्रतिमा और सुशीला, 'चढ़ा दिमाग' की शीला, 'गौरा' कहानी की गौरा, 'कल्याणी' की अनीता, 'प्रोफसर मित्रा' की मृणाल, 'दो सखिय' की मुन्नी और रामी, 'एक्सीडेंट' कहानी की कुसुम नारी चरित्रों में पर्याप्त प्रगतिशील दृष्टिकोण दिखाई देता है। यही दृष्टिकोण उन्हें मानवता के उच्च धरातल में खड़ा करता है। 'मंझली रानी' कहानी की कथा नायिका अपनी प्रगतिशील दृष्टि के कारण भारतीय समाज की निम्न स्तरीय सोच का उद्घाटन करती है:" यहां तो किसी पुरुष का किसी स्त्री से मिलना-जुलना या किसी प्रकार का व्यवहार रखना ही पाप है। और यदि कोई स्त्री किसी पुरुष से किसी प्रकार का

व्यवहार रखती है प्रेम से बातचीत करती है तो वह स्त्री भ्रष्ट है, चरित्र हीन है''[१४] वस्तुत: समाज के प्रति इस प्रकार का विद्रोह पूर्ण स्वर प्रगतिशीलता का प्रमाण नहीं तो और क्या है? वह अपनी प्रगतिशील सोच एवं समझ के कारण सत्याग्रह आंदोलन की सवयंसेविका बनना चाहती है क्योंकि उसकी इच्छा स्वयं—सेविका बनकर देश की सेवा करना है। 'परिवर्तन' कहानी की चम्पा का चरित्र भी प्रगतिशील है। वह अपनी प्रगतिशील चेतना के द्वारा दुराचारी ठाकुर खेत सिंह का हृदय परिवर्तन करने में सफल होती है। 'दृष्टिकोण' कहानी की निर्मला का चरित्र भी प्रगतिगामी है इसीलिए भ्रष्टा विट्टन को तमाम प्रकार की पारिवारिक कठिनाइयों के बावजूद भी अपने घर में रखना चाहती है। किन्तु सास और पति के द्वारा अत्यधिक विरोध किए जाने पर, उसकी प्रगतिशील चेतना पति पर फूट पड़ती है: 'जी हां जितना इस घर में आप का अधिकार है, उतना ही मेरा भी है। यदि आप अपने किसी चरित्रहीन पुरूष मित्र को आदर और सम्मान के साथ ठहरा सकते हैं तो मैं भी किसी असहाय अबला को कम से कम आश्रय तो दे ही सकती हूँ।[१५] इसी प्रकार सुभद्रा कुमारी चौहान की 'कदम्ब के फूल' कहानी की नारी चरित्र भामा के संवादों में प्रगतिशील सोच व्यक्त हुई है। इसीलिए तो सास के द्वारा डराए जाने पर कहती है: 'मारो देखूं कैसे मारती हो? मुझे वह बहू न समझ लेना जो सास की मार चुपचाप सह लेती है।''[१६] उन्मादिनी' कहानी की नारी चरित्र सोना भी पर्याप्त प्रगतिशील है। इसीलिए वह अपने पिता के द्वारा वर की ढूंढ के लिए लगाए जाने वाले चक्करों की पक्षधर नहीं है उसका तो मानना है: ''मुझे तो विवाहों के चक्करों से वे चक्कर अधिक रुचते थे, जो मैं कभी-कभी कुंदन के लिए और प्राय: कुंदन मेरे लिए लगाया करता था। मैं चाहती तो यह थी कि मुझे अब और किसी के साथ चक्कर न लगाने पड़े।[१७] वस्तुत: किसी लड़के के प्रति, अविवाहित लड़की की यह सोच, उसकी प्रगतिशील दृष्टि का ही परिणाम हो सकती है। इसीलिए तो सब प्रकार का संपन्न घर-परिवार मिलने पर भी उसका मन कुंदन के प्रति आसक्त दिखता है। विवाह के बाद विदाई के समय एकाएक कुंदन के प्रकट होने पर मान-मार्यादा का ध्यान दिए बिना चिल्ला कर कुंदन को बुलाना, जहां उसका कुंदन के प्रति स्थायी आकर्षण को व्यक्त करता है। वहीं कहीं न कहीं उसकी प्रगतिवादी दृष्टि भी व्यक्त होती है। पति के प्रति उसकी निरंतर असहज स्थिति सब प्रकार के सुखोपभोग, आकर्षण रहित यंत्र चालित जीवन एवं पति के बराबर टोका-टोकी के बावजूद भी कुंदन से मिलने की प्रबल उत्कंठा निश्चित ही उसी प्रगतिगामिता को दर्शाती है। वह अस्वस्थ है और उसे भवाली (नैनीताल) टी०बी० अस्पताल में भेजने की तैयारी हो रही है किन्तु उसका मानना है: ''भवाली से भी अधिक स्वास्थ्य लाभ मैं कुंदन के समीप केवल उसके सहवास से कर सकती हूँ। और यही मेरे पतिदेव को स्वीकार नहीं है।[१८] 'असमंजस' कहानी की कुसुम बाल विधवा है। वर्षों बाद जब उसका विवाह पूर्व पुरुष मित्र बसंत, उसके एकाकी त्रासद जीवन को देखकर पुनर्विवाह की सलाह देता है तो वह विवाह पू

प्रेमी बसंत के प्रति अपने प्रेम का रहस्योदघाटन करने पर भी, अपनी प्रगतिशील सोच के कारण पुनर्विवाह के लिए साफ-साफ मना कर देती है। क्योंकि उसका मानना है। 'बसंत मैंने निश्चय किया है कि मैं पुनर्विवाह न करूंगी, तुम्हारा और मेरा प्रेम शुद्ध है, उसमें वासना और स्वार्थ की गंध नहीं है। कहानियों की तरह क्या प्रेम का अंत विवाह में ही होना चाहिए बसंत?[१९] 'गौरी' कहानी की गौरी इनकी अन्य कहानियों की नारी चरित्रों की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील है। उसमें कोरी भावुकता एवं कल्पना के स्थान पर पर्याप्त गहराई है। वह पिता की अकेली एवं सर्वगुण संपन्न संतान है किन्तु हर बाप की तरह उसका पिता भी उसके विवाह के लिए चिंतित है। उसके लिए योग्य वर न मिल पाने के कारण, उसकी उम्र बढ़ रही है। वर न ढूंढ पाने की असफलता से आहत माता-पिता के प्रति उसके मन में गहरी सहानुभूति है। उसका प्रगतिशील मन तो चाहता है: ''और अगर पिता विवाह को इतना अधिक महत्त्व देते हैं, तो फिर पात्र और कुपात्र क्या है? विवाह करना है कर दें किसी के साथ, वह हर हालत में सुखी एवं संतुष्ट रहेगी''[२०] और अपनी प्रगतिशील दृष्टि के कारण, वह अपने मां-बाप की इच्छा के विरूद्ध दो बच्चों के बाप को अपना पति मानती है। क्योंकि उसका मानना है: ''किसी विलासी युवक की पत्नी बनने से अधिक मैं इन भोले बच्चों की मां बनना पसंद करूंगी।''[२१] मंगला' कहानी की मंगला भी पर्याप्त प्रगतिशील है। इसी लिए वह अपनी मां से विवाह के लिए मना करती है: ''पास-पड़ोस के घरों में इन शिक्षित परिवारों में भी जो कुछ होता है तुम जानती हो। यह सब जान-बूझकर भी क्यों चाहती हो माँ कि मै विवाह कर लूं? फिर तुम मेरे स्वभाव को भी जानती हो। मैं किसी के इशारे पर आंख-कान बन्द करके नहीं चल सकती।''[२२] इन कहानियों के अतिरिक्त सुभद्रा की 'कल्याणी' कहानी की कल्याणी भी कम प्रगतिशील दृष्टि संपन्न नहीं है वह अपने विवेक के द्वारा जहाँ अपने सतीत्व की रक्षा करने में सफल होती है वही एक परिवार को टूटने से भी बचाती है। 'दो सखियां' कहानी की रामी और मुन्नी अत्यंत प्रगतिशील है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न सामाजिक स्थिति की होने पर भी परस्पर दोनों में प्रगाढ़ मैत्री है। इतना ही नहीं अपने घर की मालिन की पुत्री रामी को चुन्नी भाभी के रूप में सहर्ष स्वीकार करती है। 'एक्सीडेंट' कहानी की कुसुम भी पर्याप्त विचारवान है। वह अपनी वैचारिक क्षमताओं के द्वारा अत्यधिक बदनाम प्राणनाथ सहगल के जीवन को नए अर्थों से भरती है। बड़े भाई के द्वारा डांटने पर भी, वह न केवल उसके घर जाती है बल्कि उसको अपने घर भी बुलाती है। 'दुनिया' कहानी की मिसेज अरोड़ा तो पर्याप्त प्रगतिशील है। अपनी अत्यन्त व्यावहारिक एवं सामाजिक प्रवृत्ति के कारण उसे दुनियां के अनावश्यक व्यंग्य बाणों को झेलना पड़ता है। उसकी प्रगतिशील दृष्टि को व्यक्त करते हुए कहानी का एक पुरूष पात्र भगवती प्रसाद कहता है: ''परदा उसने न बचपन में किया न अब कर सकती है। उसकी नजरों में स्त्री-पुरूष सब समान है। इसीलिए वह सबसे खुलकर प्रेमपूर्वक मिलती है, यही उसके आचरण का दोष है।''[२३] इनके अतिरिक्त

व्यवहार रखती है प्रेम से बातचीत करती है तो वह स्त्री भ्रष्ट है, चरित्र हीन है''[१४] वस्तुतः समाज के प्रति इस प्रकार का विद्रोह पूर्ण स्वर प्रगतिशीलता का प्रमाण नहीं तो और क्या है? वह अपनी प्रगतिशील सोच एवं समझ के कारण सत्याग्रह आंदोलन की सवयंसेविका बनना चाहती है क्योंकि उसकी इच्छा स्वयं—सेविका बनकर देश की सेवा करना है। 'परिवर्तन' कहानी की चम्पा का चरित्र भी प्रगतिशील है। वह अपनी प्रगतिशील चेतना के द्वारा दुराचारी ठाकुर खेत सिंह का हृदय परिवर्तन करने में सफल होती है। 'दृष्टिकोण' कहानी की निर्मला का चरित्र भी प्रगतिगामी है इसीलिए भ्रष्टा विट्टन को तमाम प्रकार की पारिवारिक कठिनाइयों के बावजूद भी अपने घर में रखना चाहती है। किन्तु सास और पति के द्वारा अत्यधिक विरोध किए जाने पर, उसकी प्रगतिशील चेतना पति पर फूट पड़ती है: 'जी हां जितना इस घर में आप का अधिकार है, उतना ही मेरा भी है। यदि आप अपने किसी चरित्रहीन पुरूष मित्र को आदर और सम्मान के साथ ठहरा सकते हैं तो मैं भी किसी असहाय अबला को कम से कम आश्रय तो दे ही सकती हूँ।[१५] इसी प्रकार सुभद्रा कुमारी चौहान की 'कदम्ब के फूल' कहानी की नारी चरित्र भामा के संवादों में प्रगतिशील सोच व्यक्त हुई है। इसीलिए तो सास के द्वारा डराए जाने पर कहती है: 'मारो देखूं कैसे मारती हो? मुझे वह बहू न समझ लेना जो सास की मार चुपचाप सह लेती है।''[१६] उन्मादिनी' कहानी की नारी चरित्र सोना भी पर्याप्त प्रगतिशील है। इसीलिए वह अपने पिता के द्वारा वर की ढूंढ के लिए लगाए जाने वाले चक्करों की पक्षधर नहीं है उसका तो मानना है: ''मुझे तो विवाहों के चक्करों से वे चक्कर अधिक रुचते थे, जो मैं कभी-कभी कुंदन के लिए और प्रायः कुंदन मेरे लिए लगाया करता था। मैं चाहती तो यह थी कि मुझे अब और किसी के साथ चक्कर न लगाने पड़े।[१७] वस्तुतः किसी लड़के के प्रति, अविवाहित लड़की की यह सोच, उसकी प्रगतिशील दृष्टि का ही परिणाम हो सकती है। इसीलिए तो सब प्रकार का संपन्न घर-परिवार मिलने पर भी उसका मन कुंदन के प्रति आसक्त दिखता है। विवाह के बाद विदाई के समय एकाएक कुंदन के प्रकट होने पर मान-मार्यादा का ध्यान दिए बिना चिल्ला कर कुंदन को बुलाना, जहां उसका कुंदन के प्रति स्थायी आकर्षण को व्यक्त करता है। वहीं कहीं न कहीं उसकी प्रगतिवादी दृष्टि भी व्यक्त होती है। पति के प्रति उसकी निरंतर असहज स्थिति सब प्रकार के सुखोपभोग, आकर्षण रहित यंत्र चालित जीवन एवं पति के बराबर टोका-टोकी के बावजूद भी कुंदन से मिलने की प्रबल उत्कंठा निश्चित ही उसी प्रगतिगामिता को दर्शाती है। वह अस्वस्थ है और उसे भवाली (नैनीताल) टी०बी० अस्पताल में भेजने की तैयारी हो रही है किन्तु उसका मानना है: ''भवाली से भी अधिक स्वास्थ्य लाभ मैं कुंदन के समीप केवल उसके सहवास से कर सकती हूँ। और यही मेरे पतिदेव को स्वीकार नहीं है।[१८] 'असमंजस' कहानी की कुसुम बाल विधवा है। वर्षों बाद जब उसका विवाह पूर्व पुरुष मित्र बसंत, उसके एकाकी त्रासद जीवन को देखकर पुनर्विवाह की सलाह देता है तो वह विवाह पू

प्रेमी बसंत के प्रति अपने प्रेम का रहस्योदघाटन करने पर भी, अपनी प्रगतिशील सोच के कारण पुनर्विवाह के लिए साफ-साफ मना कर देती है। क्योंकि उसका मानना है। 'बसंत मैंने निश्चय किया है कि मैं पुनर्विवाह न करूंगी, तुम्हारा और मेरा प्रेम शुद्ध है, उसमें वासना और स्वार्थ की गंध नहीं है। कहानियों की तरह क्या प्रेम का अंत विवाह में ही होना चाहिए बसंत?[१९] 'गौरी' कहानी की गौरी इनकी अन्य कहानियों की नारी चरित्रों की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील है। उसमें कोरी भावुकता एवं कल्पना के स्थान पर पर्याप्त गहराई है। वह पिता की अकेली एवं सर्वगुण संपन्न संतान है किन्तु हर बाप की तरह उसका पिता भी उसके विवाह के लिए चिंतित है। उसके लिए योग्य वर न मिल पाने के कारण, उसकी उम्र बढ़ रही है। वर न ढूंढ पाने की असफलता से आहत माता-पिता के प्रति उसके मन में गहरी सहानुभूति है। उसका प्रगतिशील मन तो चाहता है: ''और अगर पिता विवाह को इतना अधिक महत्त्व देते हैं, तो फिर पात्र और कुपात्र क्या है? विवाह करना है कर दें किसी के साथ, वह हर हालत में सुखी एवं संतुष्ट रहेगी''[२०] और अपनी प्रगतिशील दृष्टि के कारण, वह अपने मां-बाप की इच्छा के विरूद्ध दो बच्चों के बाप को अपना पति मानती है। क्योंकि उसका मानना है: ''किसी विलासी युवक की पत्नी बनने से अधिक मैं इन भोले बच्चों की मां बनना पसंद करूंगी।''[२१] मंगला' कहानी की मंगला भी पर्याप्त प्रगतिशील है। इसी लिए वह अपनी मां से विवाह के लिए मना करती है: ''पास-पड़ोस के घरों में इन शिक्षित परिवारों में भी जो कुछ होता है तुम जानती हो। यह सब जान-बूझकर भी क्यों चाहती हो माँ कि मै विवाह कर लूं? फिर तुम मेरे स्वभाव को भी जानती हो। मैं किसी के इशारे पर आंख-कान बन्द करके नहीं चल सकती।''[२२] इन कहानियों के अतिरिक्त सुभद्रा की 'कल्याणी' कहानी की कल्याणी भी कम प्रगतिशील दृष्टि संपन्न नहीं है वह अपने विवेक के द्वारा जहाँ अपने सतीत्व की रक्षा करने में सफल होती है वही एक परिवार को टूटने से भी बचाती है। 'दो सखियां' कहानी की रामी और मुन्नी अत्यंत प्रगतिशील है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न सामाजिक स्थिति की होने पर भी परस्पर दोनों में प्रगाढ़ मैत्री है। इतना ही नहीं अपने घर की मालिन की पुत्री रामी को चुन्नी भाभी के रूप में सहर्ष स्वीकार करती है। 'एक्सीडेंट' कहानी की कुसुम भी पर्याप्त विचारवान है। वह अपनी वैचारिक क्षमताओं के द्वारा अत्यधिक बदनाम प्राणनाथ सहगल के जीवन को नए अर्थों से भरती है। बड़े भाई के द्वारा डांटने पर भी, वह न केवल उसके घर जाती है बल्कि उसको अपने घर भी बुलाती है। 'दुनिया' कहानी की मिसेज अरोड़ा तो पर्याप्त प्रगतिशील है। अपनी अत्यन्त व्यावहारिक एवं सामाजिक प्रवृत्ति के कारण उसे दुनियां के अनावश्यक व्यंग्य बाणों को झेलना पड़ता है। उसकी प्रगतिशील दृष्टि को व्यक्त करते हुए कहानी का एक पुरूष पात्र भगवती प्रसाद कहता है: ''परदा उसने न बचपन में किया न अब कर सकती है। उसकी नजरों में स्त्री-पुरूष सब समान है। इसीलिए वह सबसे खुलकर प्रेमपूर्वक मिलती है, यही उसके आचरण का दोष है।''[२३] इसके अतिरिक्त

सुभद्रा कुमारी चौहान की 'अमराई' , 'चढ़ा दिमाग' ,'रूपा', 'तीन बच्चे' जैसी कहानियों भी हैं, जिनकी नारी चरित्र देश प्रेम की भावना से युक्त होने के कारण, राजनीति में अपनी सक्रियता को व्यक्त करती है।

वस्तुतः सुभद्रा कुमारी चौहान प्रेमचंद युग की कहानीकार हैं। अतः इनकी कहानियां प्रेमचंद और जयशंकर प्रसाद की कहानियों से पर्याप्त प्रभावित हैं। यही कारण है कि इन्होंने प्रेमचंद के समान जहाँ एक ओर सामाजिक यथार्थ एवं आदर्श को व्यक्त करने वाली 'मंझली बहू', 'कदम्ब के फूल', 'अभिव्युक्ता', 'पवित्र ईर्ष्या', 'एकादशी', 'असमंजस', 'दुराचारी' आदि जैसी कहानियां लिखी हैं वहीं जयशंकर प्रसाद की भावुकता, कल्पना प्रधान और काव्यात्मकता युक्त कहानियों की तरह 'मछुए की बेटी', 'उन्मादिनी', 'नारी हृदय', 'अंगूठी की खोज', 'सोने की कंठी', 'कल्याणी' जैसी कहानियां भी लिखी है। कुल मिलाकर सुभद्रा ने अपने आस-पास से ही कथानक का चयन किया है। यद्यपि सुभद्रा ने अपनी कहानियों में अपने समय के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनैतिक संदर्भो को विषय बनाया है, तथापि इनकी कहानियों के केन्द्र मे नारी सर्वाधिक दिखाई पड़ती है। इनकी कहानियों में चित्रित नारी समाज के सभी वर्गो से संबद्ध है। सब प्रकार से सर्वगुण संपन्न होने पर भी, इनकी कहानियों में चित्रिता नारी विविध प्रकार की सामाजिक कठिनाइयों से अपरिमित कष्ट पाती है। इसके अतिरिक्त सुभद्रा जी ने भारतीय समाज की नारी विषयक अस्वस्थ दृष्टि का उद्‌घाटन भी किया है। विविध कठिनाई को झेलती सुभद्रा की कहानियों की नारी चरित्र पर्याप्त प्रगतिशील भी हैं। यही प्रगतिशीलता इनकी कहानियों के नारी चरित्रों को जहाँ एक ओर राष्ट्र की चिंता धारा से जोड़ती है वहीं उन्हें मानवीयता का उच्चादर्श प्रदान करती है। वस्तुतः इनकी कहानियों में चित्रित नारी की दशा अच्छी न होते हुए भी दिशा साफ—सुथरी एवं सम्भवनाशील है।

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
कुमाऊं विश्वविद्यालय, एम.एस.जे.
परिसर, अल्मोड़ा (उत्तरांचल)



संदर्भ

१. हिंदी साहित्य का इतिहास; सं०डॉ० नगेंद्र, पृ० ५८५, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा संस्करण : १९९७ ई०।
२. सुभद्रा समग्र (दृष्टिकोण), पृ० ४२, हंस प्रकाशन, १८ न्यायमार्ग, इलाहाबाद, संस्करण : २००० ई०।

३. वही; (मझली रानी); पृ० २९
४. वही; पृ० २०
५. वही; (नारी हृदय); पृ० १३९
६. वही; पृ० १३८
७. वही (मंगला); पृ० २५९
८. वही; (पवित्र ईर्ष्या), पृ० १४८
९. वही; (अभियुक्ता); पृ० १४८
१०. वही (मंझली रानी); पृ० २८
११. वही; पृ. २८
१२. वही; पृ. २०
१३. वही; (बड़े घर की बात) पृ० २७४
१४. वही (मझली रानी); पृ० २०
१५. वही (दृष्टिकोण); पृ० ४२
१६. वही (कदम्ब के फूल); पृ० ४५
१७. वही (उन्मादिनी); पृ० १०७
१८. वही; पृ० १११-११२
१९. वही (असमंजस); पृ० १२५
२०. वही (गौरी); पृ० १८५
२१. वही; पृ० १८९
२२. वही; (दुनिया); पृ० ३१२
२३. वही; (मंगला); पृ० २५९

हिन्दी कहानी यात्रा में-नवलिका-मञ्जरी

● डॉ० वीरेन्द्र सिंह यादव

नवलिका -मञ्जरी सुभद्रा कुमारी चौहान की सत्रह हिन्दी की उत्कृष्ट कहानियों का संग्रह है। जिसका सम्पादन सुभ्रदा कुमारी चौहान ने किया है। नवलिका -मञ्जरी शीर्षक से प्रकाशित इस कहानी संग्रह को नेशनल प्रेस प्रयाग ने सन् १९४४ ई० में प्रकाशित किया था। इसमें सुभद्रा जी ने प्रेमचंद की कहानी मंत्र, सुदर्शन की कीर्ति मार्ग, ज़यशंकर प्रसाद की कहानी 'मधुआ', पदम लाल पुन्नालाल बख्शी की 'कमलावती', बेचन शर्मा 'उग्र' की 'बुढ़ापा' , सियाराम शरण गुप्त जी की 'काकी', जैनेन्द्र कुमार की 'अपना-अपना भाग्य', रामानुज लाल श्रीवास्तव की 'बिजली', विनोद शंकर व्यास की 'विधाता', चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की 'गोरा', अज्ञेय जी की 'कड़ियाँ', उषा देवी मित्रा की 'उसके बाद', अन्न पूर्णा नन्द वर्मा की 'अकबरी लोटा', नर्मदा प्रसाद खरे की 'सोना', राधा कृष्ण की 'अवलम्ब' तथा अन्त में लेखिका ने अपनी कहानी 'पापी पेट', को समाविष्ट किया है। स्वतन्त्रता आन्दोलन के समसामयिक हिन्दी कहानी-कारों को सुभद्रा जी ने नवलिका -मञ्जरी में प्रतिष्ठापित किया है।

इन कहानियों की सम्पादिका, श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान का जन्म १९६१ वि० में, नागपंचमी के दिन, प्रयाग के निकट निहालपुर मुहल्ले में हुआ था। कविता एवं कहानियों के प्रति इनका प्रेम बचपन से ही था। ये बहुत ही भावुक, कल्पना प्रवण और सरल स्वभाव की थी। जिस साल ये हाई स्कूल की नवीं श्रेणी की परीक्षा देनेवाली थी, उसी साल साबरमती के तपस्वी ने स्वाधीनता संग्राम का बिगुल बजाया और तब स्कूल छोड़कर राष्ट्रीय झण्डे के नीचे जा खड़ी होने वाली ये पहली महिला थीं। उसी वर्ष इनके पति ने वकालत की परीक्षा पास की थी, लेकिन इनके अनुरोध से उन्होंने भी वकालत न करने का निश्चय किया। उसके बाद तो इस आदर्श दम्पत्ति ने देश सेवा को ही अपने जीवन का व्रत बना लिया।

नागपुर के झण्डा-सत्याग्रह के समय ये दो बार गिरफ्तार हुईं और कई दिनों तक जेल में रक्खी जाने के बाद छोड़ दी गयीं। इसी समय महात्मा गाँधी के साथ सावरमती में भी कुछ समय तक रहने का इन्हें अवकाश मिला।

'पापी पेट' कहानी की पृष्ठ भूमि स्वतन्त्रता आन्दोलन से सम्बन्धित है। जिसके माध्यम से सुभद्रा जी ने भारतीय जन मानस की भावनाओं एवं विवेक को उभारने की कोशिश की है। भावनाओं एवं विवेक के बीच परस्पर शक्ति परीक्षण कराने पर अन्ततः भावनाओं की ही विजय होती है क्योंकि भावनाओं में एक सहज उद्वेग एवं प्रवाह होता हैं जो जनमानस को प्रेरित एवं प्रभावित करता है तथा वशीभूत करने की क्षमता भी, परन्तु विवेक में तर्क एवं बौद्धिकता होती है जो व्यक्ति को निर्णय करने में बाधक हाती है। भावनाओं की यह गति 'पापीपेट' में पुलिस वाले, थानेदार, कोतवाल तथा मजिस्ट्रेट राय साहब को बहा ले जाती है और सभी लोग अपने कुकृत्य पर पछतावा करते हुए अन्त में देश प्रेम के प्रति विवेक का सहारा लेते हैं।

कहानी के चार पात्र पुलिस अधिकारी हैं। जिनका दायित्व है कि स्वराजियों की होने वाली बैठक को किसी तरह सफल न होने दिया जाये और इसके लिये शासन की तरफ से इन लोगों को डराने-धमकाने की तथा लाठी चलाने की पूरी छूट थी। पुलिस वाले रामखिलावन ने लाठी चला कर कई लोगों को घायल कर दिया। परन्तु उसकी भावनाएं इसके प्रति तैयार नहीं थी। उसे "सभी को लाठी चार्च करने, निहत्थे निरपराध व्यक्तियों पर हाथ चलाने का अफसोस हो रहा था। रामखिलावन ने अपनी कोठरी में जाकर अन्दर से दरवाजा लगा लिया और लाठी चूल्हे में जला दी। उसकी लाठी के वार से एक सुकुमार बालक की खोपड़ी फट गई थी। उसने मन में कहा बिचारे निहत्थे ओर निरपराधों को कुत्तों की तररह लाठी से मारना, राम राम यह हत्या! किसके लिए? पेट के लिए? इस पापी पेट को तो जानवर भी भर लेता है। फिर हम आदमी होकर इतना पाप क्यों करें? इस बीस रूपट्टी के लिए यह कसाईपन? न अब तो यह न हो सकेगा। जिस परमात्मा ने पेट दिया है वह अन्न भी देगा। लानत है ऐसी नौकरी पर;। (नवलिका-मञ्जरी, पृष्ठ १८३-८४)।

इसी तरह की राष्ट्रीय भावनाओं की पीड़ा थानेदार बरकत उल्ला एवं कोतावाल बख्ता सिंह को सता रही है, परन्तु एक समस्या उन सबको है कि आखिर देश-प्रेम की इस भावना में उनका परिवार किस तरह भरण पोषण करेगा? इसी पीड़ा को व्यक्त करते हुए शहर कोतवाल जी कहते हैं कि इसी तनख्वाह के लिए "झूठ, सच, अन्याय, अत्याचार क्या-क्या नहीं करना पड़ता? पर उपाय भी तो कुछ नहीं है। इस छः फीट के शरीर को कायम रखने के लिए पेट में तो कुछ झोकना ही पड़ेगा। क्या ही अच्छा होता यदि भगवान पेट न बनाता।' (नवलिका -मञ्जरी पृ० १८६-८७।"

'पापी पेट' कहानी में लेखिका ने स्वाधीनता आनदोलन के समय होने वाली घटनाओं को चूँकि स्वयं अपनी आँखों द्वारा देखा था। और उसे स्वयं भोगा था! अतः जीते जागते पात्रों की भावनाओं के प्रति वे सजग एवं सहज रूप से परिचित थीं।

इसलिए ये जीते जागते पात्र, उनकी सहज उक्तियां सुभद्रा कुमारी चौहान ने स्वयं महसूस की और उनकी मार्मिक संवेदना को उन्होंने उनके अंदर तक जानने, झांकने की कोशिश की है। 'पापी पेट' कहानी के पात्र इन्हीं कशमश एवं अन्तर्द्वन्द्व से गुजरते हुए साथ ही समय की मार को झेलते हुए किसी तरह से जी रहे हैं क्योंकि यह पापी पेट जो है जो न करावे सो थोड़ा है।

प्रवक्ता (हिन्दी विभाग)
दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर कालेज
उरई -जालौन



सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानियों में नारी मुक्ति के स्वर

• डॉ॰ सरोज सिंह

हिन्दी साहित्य में कवयित्री, देशसेविका सुभद्रा कुमारी चौहान का नाम अत्यन्त गरिमापूर्ण ढंग से लिया जाता है। स्वाधीनता आन्दोलन में उन्होंने अपनी सफल भूमिका का निर्वाह तो किया ही था, साथ ही साहित्य के माध्यम से अपनी प्रखर चेतना, विद्रोही व्यक्तित्व को भी दर्शाया है। उनकी कविता का ओज, औदार्य तथा देशप्रेम की भावना इतनी प्रभावक है कि उनकी कहानियों की ओर आम पाठक का ध्यान ही नहीं जाता। उनकी कहानियाँ अपने समय, समाज और परिवार का सफल अंकन करती है, इतना ही नहीं उनका विद्रोही व्यक्तित्व और स्त्रीवादी सोच भी कहानियों में उभर कर सामने आया है।

सुभद्रा कुमारी चौहान का जन्म पराधीन भारत में १९०४ को हुआ था, बचपन से ही उनमें अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाने की ताकत थी। वे तद्‌युगीन सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक स्थितियों को आत्मसात् करते हुए उस क्षितिज पर अपनी आभा भी विकीर्ण करती है। उन्होंने अपने पति श्री लक्ष्मण सिंह के साथ असहयोग आन्दोलन में खुलकर भागीदारी निभाई थी। सन् १९१८-१९१९ के आस पास स्त्रियों में शिक्षा का अभाव था, पर्दाप्रथा भी जोरों पर थी। ऐसी परिस्थिति में सुभद्रा जी ने अपने पारिवारिक दायित्व के साथ ही साथ देश के प्रति भी अपने दायित्व का निवर्हन सफलता पूर्वक किया। सुभद्रा जी ने अपनी कहानियों में हर सामाजिक विकृति को उभारने की चेष्टा की है। स्त्री के प्रति स्त्री की सोच, पुरूष की स्त्री के प्रति शक्की दृष्टि, अंकुश, परिवार में उपेक्षित नारी-पात्रों का सफल अंकन उनकी कहानियों में दिखाई देता है। 'आहुति' कहानी में कुन्तला जो राधेश्याम की दूसरी पत्नी है, पति के शक को इस रूप में व्यक्त करती है—"जाते-जाते उसने अखिलेश्वरं पर एक ऐसी मार्मिक दृष्टि डाली, जिसमें न जाने कितनी करुणा, कितनी विवशता, कितनी कातरता और कितनी दीनता थी। कुन्तला चली गई किन्तु उसकी इस करुणदृष्टि से अखिलेश्वर की आँखें खुल गई। राधेश्याम के आंतरिक भावों को वे अब समझ सके।"[१]

सुभद्रा जी की प्रमुख कहानियों का संग्रह बिखरे मोती, उन्मादिनी तथा नवलिका मंजरी है, जिनके जरिये उनके स्पष्टवादी व्यक्तित्व का पता चलता है। अपनी कहानियों के संदर्भ में उन्होंने स्वयं लिखा है—

'रूढ़ियों और सामाजिक बंधनों की शिलाओं पर अनेक निरपराध आत्मायें प्रतिदिन ही चूर-चूर हो रही है। उनके हृदय-बिन्दु जहाँ मोतियों के समान बिखरे पड़े हैं। मैंने तो उन्हें केवल बटोरने का ही प्रयत्न किया है। मेरे इस प्रयत्न में कला का लोभ है और अन्याय के प्रति लोभ भी। सभी मानवों के हृदय एक से हैं। वे पीड़ा से दु:खित, अत्याचार से रुष्ट और करुणा से द्रवित होते हैं।''[२]

सुभद्रा जी की राष्ट्रीय भावना और स्त्रीवादी विचार इतना पारदर्शी और स्पष्ट है कि उसे किसी समीक्षक के विश्लेषण की आवश्यकता नहीं है। उनकी जैसी सोच आज के कहानीकारों की नारीवादी सोच में भी नहीं है। कुन्तला का यह कथन सुभद्रा जी के नारीवादी सोच की ही अभिव्यक्ति करता है— '' किन्तु वह राधेश्याम को किस प्रकार रोक सकती थी?

क्योंकि वह उनकी विवाहिता पत्नी ठहरी। सात भाँवरे फिर लेने के बाद राधेश्याम को तो उसके शरीर की पूरी मॉनापोली (Monopoly) मिल चुकी थी न।''[३]

सुभद्रा जी की कहानियों में पुरुष वर्ग की नीति और स्थिति भी स्पष्ट की गई है। स्त्री और पुरुष की समानता, स्वतंत्रता का जोर शोर से चर्चा करने वाला पुरुष घर में प्रविष्ट होते ही मात्र पुरुष ही रह जाता है, उसकी व्यापक सोच संकीर्ण हो जाती है। स्त्री पर अपनी इच्छायें, आदेश लादना ही उसका धर्म बन जाता है। उनकी अधिकांश कहानियाँ इसी भाव की अभिव्यक्ति करती है। 'नारीहृदय' कहानी में प्रमिला कहती है ''परमात्मा ने स्त्री जाति के हृदय में इतना विश्वास, इतनी कोमलता और इतना प्रेम शायद इसीलिए भर दिया है कि वह पग पग पर ठुकराई जाये। जिस देवता के चरणों पर हम अपना सर्वस्त्र चढ़ाकर केवल, उसकी कृपादृष्टि की भिखारिनी बनती हैं, वही हमारी तरफ आँख उठाकर देखने में भी अपना अपमान समझता है।''[४]

सुभद्रा जी छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा की समकालीन थी, कहानी की दृष्टि से उनका रचनाकाल भी प्रेमचन्द- प्रसाद युग में ही पड़ता है। कहानीकारों के विराट व्यक्तित्व के समक्ष सुभद्रा जी की कहानियों को विशेष महत्व न मिल सका। किन्तु उनके समकालीन रचनाकारों ने उनके विद्रोही व्यक्तित्व और सृजन की सराहना की है। महादेवी जी ने लिखा है— ''उनकी कहानियाँ प्रमाणित करती हैं कि उन्होंने जीवन और समाज की अनेक समस्याओं पर विचार किया और कभी अपने निष्कर्ष के साथ और कमी दूसरों के निष्कर्ष के लिए उन्हें बड़े चमत्कारिक ढंग से उपस्थित किया।'' [५]

हिन्दी साहित्य की सुभद्रा कुमारी चौहान ऐसी साधिका हैं जिन्होंने किसी बंधन या वाद का डंका नहीं पीटा, न ही किसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया, बल्कि रूढ़ियों एवं सामाजिक बंधनों से स्वयं को ही मुक्त कर एक नई दिशा एवं सोच नारियों को देने की कोशिश की। बचपन से ही उनमें अन्याय के प्रतिकार की भावना थी। उनके बारे में उनकी पुत्री सुधा चौहान ने लिखा है— ''शाम को खूब जोरों का खेल जमता था, कभी धमा-

चौकड़ी होती तो कभी गम्भीर तरह के खेल होते, महिला समिति की सभा होती, लड़कियाँ स्त्री-सुधार पर पर्दे के विरोध और शिक्षा पर जोर-शोर से भाषण देतीं, आपस में ही सभापति बन जाती, कोई मंत्री कोई वक्ता।''६

सुभद्रा कुमारी चौहान के बहुमुखी व्यक्तित्व का निर्माण ही प्रेम और ममत्व से हुआ था, उन्हें बच्चों से, वृक्षों से, जगत से, हर एक व्यक्ति से तथा सृष्टि की हर रचना से प्यार था, जो उनकी रचनात्मकता में दृष्टिगत होता है। ''मातृशक्ति का दिव्य रक्षक उद्धारक रूप होने के कारण भी भीमा कृति चंडी वत्सल अम्बा भी है, जो हिंसात्मक पाशविक शक्तियों को चरणों के नीचे दबाकर अपनी सृष्टि के मंगल की साधना करती है।''७

लक्ष्मी बाई का व्यक्तित्व सुभद्रा जी के लिए प्रेरणा स्त्रोत था। इसी प्रेरणा के जरिये उन्होंने साहित्य और राजनीति को समरस बना दिया। उन्हें अपने देश, उसकी संस्कृति और गौरव से बहुत लगाव था। यह सब कुछ उनके कथा साहित्य का मर्म है। स्त्री-स्वातंत्र्य की भावना भी उनकी कहानियों में व्यक्त की गई है। उनकी अधिकतर कहानियाँ नारी की पीड़ा की ही अभिव्यक्ति करतीं है। ''यदि अपने किसी आत्मीय के सच्चे और निःस्वार्थ प्रेम को समझने और उसके भूल करने को ही उन्माद कहते हैं, तो ईश्वार ऐसा उन्माद सभी को दे। क्या कहा वह मेरा कौन था? यह तो मैं नहीं कह सकती, पर कोई था अवश्य और ऐसा था, मेरे इतने निकट था कि आज वह समाधि में सोया है और मैं बावली की तरह उसके आसपास फेरी देती हूँ।''८

असमंजस, उन्मादिनी, सोने की कंठी, अभियुक्त, नारीहृदय, पवित्र ईर्ष्या, अँगूठी की खोज, वेश्या की लड़की, थाली, दृष्टिकोण, मँझली रानी, भग्नावशेष, महुए की बेटी, चढ़ा दिमाग उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। सुभद्रा जी की कहानियों में अधिकांश स्त्री-पात्र 'सन्देह' की आग, से ही अपने दाम्पत्य जीवन को नारकीय रूप में झेलती हैं। सास का बहू पर संदेह, पति का पत्नी पर सन्देह नारी की मनोदशा, सहनशीलता के साथ ही साथ उसके कभी मूक और मुखर विरोध को भी दर्शाता है। यह कहानियाँ अपने समय और काल का अतिक्रमण करती हैं जहाँ स्त्री-विमर्श सम्पूर्णता के साथ दिखाई देता है। उन्मादिनी कहानी की नायिका कहती है— ''उन्होंने आग्नेय नेत्रों से मेरी तरफ देखा, फिर कुछ बोले। क्या बोले मैं कुछ समझी नहीं, मैं उसी प्रकार कुंदन के सिर पर हाथ धरे बैठी रही। मेरी आत्मा ने कहा मैंने कोई अपराध नहीं किया है, किसी बीमार की सेवा सुश्रुषा करना मनुष्य भात्र का धर्म है। फिर मृत्यु की घड़ियों को गिनते हुए, उनकी नजरों में अपने आश्रित एक और अपनी आँखों में अपने एक बाल सखा को, यदि मैंने एक घूँट पानी पिला दिया, तो क्या यह कोई अपराध कर डाला।''९

सुभद्रा जी की कहानियों में एक विलक्षण सौन्दर्य और सादगी भरा वातावरण है। यह कहानियाँ नारीहृदय के साथ ही पुरुष की मनोवृत्ति का भी अंकन करती हैं। ''पत्थर के पाट पर भी रस्सी के रोज-रोज के घिसने से निशान पड़ ही जाते हैं, फिर वे तो देवतुल्य

पुरुष हैं। उनका हृदय तो कोमल है, इन अपवादों का असर कैसे न पड़ता ? रामचन्द्र जी सरीखे महापुरुष ने भी तो जरा सी ही बात पर गर्भवती सीता को वनवास दे दिया था। फिर ये तो साधारण मनुष्य ही हैं। इन्होंने तो जो कुछ कहा ठीक ही कहा।''[१०]

'वेश्या की लड़की' में सुभद्रा जी ने प्रमोद के माध्यम से पुरुष मनोवृत्ति को और अच्छी तरह से उभारा है। प्रेम का दावा करने वाला पुरुष विवाह के बाद प्रेमशून्य होता चला जाता है। ''यौवनजनित उन्माद और लालसायें चिरस्थायी नहीं होती। इस उन्माद के नशे में जिसे हम प्रेम का नाम दे डालते हैं, वह वास्तव में प्रेम नहीं, किंतु वासनाओं की प्यास मात्र है।''[११]

सुभद्रा जी स्त्री को पुरुष की सहगामिनी, सहधर्मिणी के साथ दोस्त एवं मित्र भी मानती हैं। दोनों का परस्पर सामंजस्य ही परिवार की धुरी तथा समाज का सही संचालन करता है। विवाह पहले एक ऐसी संस्था हुआ करती थी जिसमें बँधकर मर्द-औरत बच्चों के लालन-पालन के लिए एक सामाजिक-आर्थिक इकाई का रूप लेते थे। जब स्त्री का व्यक्तित्व उसके पति से स्वतंत्र नहीं माना जाता था, तब वे कहती हैं— ''मनुष्य की आत्मा स्वतंत्र है। फिर चाहे वह स्त्री के शरीर के अन्दर निवास करती हो चाहे पुरुष शरीर के अन्दर। इसी से पुरुष और स्त्री का अपना-अपना व्यक्तित्व अलग रहता है।''[१२]

निःसंदेह सुभद्रा कुमारी चौहान का हिन्दी साहित्य में एक अमिट स्थान है। भले ही चाहे उन्होंने किसी वाद या आन्दोलन के तहत साहित्य-सृजन न किया हो, फिर भी उनकी कहानियाँ नारी जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं। सारी परिस्थितियों एवं तद्‌युगीन समस्याओं के बीच भी नारी अपनी शक्ति और क्षमता को इन कहानियों में दर्शाती है। कुन्तला, छाया, प्रमिला, बिन्दो, कुसुम जैसी नारी-पात्र सुभद्रा जी के सृजनात्मकता के परिचायक हैं, जो पुरूष की मनोवृत्ति, पारिवारिक- सामाजिक रूढ़ियों के छंदावर्तन के साथ ही साथ नारी के गौरवशाली इतिहास को भी व्यक्त करती हैं। इन नारियों की मुक्ति किसी पुरुष से नहीं बल्कि रूढ़ियों, सामाजिक बंधनों के खिलाफ हैं।



संदर्भ - सूची

१- 'आहुति' कहानी; सुभद्रा कुमारी चौहान, पृष्ठ ४२, १४३

२- बिखरे मोती, पृष्ठ १५

३- 'आहुति' पृष्ठ - १३६

४- नारीहृदय पृष्ठ - ५८

५- पथ के साथी, महादेवी वर्मा, भारती मंडार पृष्ठ - ४४

६- मिला तेज से तेज, सुधा चौहान, हंस प्रकाशन, पृष्ठ - ३९

७- पथ के साथी, महादेवी वर्मा, पृष्ठ - ४३
८- उन्मादिनी पृष्ठ - ९
९- वही, पृष्ठ - २१
१०- 'ग्रामीण' पृष्ठ - १९१
११- वेश्या की लड़की, पृष्ठ - ११५
१२- पथ के साथी, महादेवी वर्मा, पृष्ठ - ४४

रीडर (हिन्दी विभाग)
सी०एम०पी० डिग्री कालेज, इलाहाबाद

❑ कहानी

ग्रामीणा

● श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान

पंडित रामधन तिवारी को परमात्मा ने सब कुछ दिया था किन्तु सन्तान के बिना उनका घर सूना था। धन धान्य से भरा-पूरा घर उन्हें जंगल की तरह जान पड़ता। संतान की लालसा से उन्होंने न जाने कितने जप-तप और विधान करवाए। और अन्त में उन की ढलती उमर में पुत्र तो नहीं पर उनके यहाँ एक पुत्री का जन्म हुआ। इस समय तिवारी जी ने खूब खुले हाथों खर्च किया। सारे गाँव को प्रीति-भोज दिया। महीनों घर में ढोलक ठनकती रही। कन्या ही सही पर इसके जन्म ने तिवारी जी के निपुत्री होने के कलंक को धो दिया था। कन्या का रंग गोरा चिट्टा, आँखें बड़ी-बड़ी, चौड़ा माथा और सुन्दर सी नासिका थी। उसके बाल घने, काले और असंख्य नन्हें-नन्हें छल्लों की भाँति सिर पर बड़े ही सुहावने लगते थे। उसका नाम रखा गया सोना। सोना का लालन-पालन बड़े लाड़-प्यार से होने लगा।

जब सोना सात साल की हुई तो घर ही में एक मास्टर लगा कर तिवारी जी ने सोना को हिन्दी पढ़वाना आरंभ किया। और थोड़े ही समय में सोना ने रामायण, महाभारत इत्यादि धार्मिक पुस्तकें पढ़ना सीख लिया। गाँव के सभी लोगों ने सोना की कुशाग्र बुद्धि की तारीफ की। इसके आगे, अधिक पढ़ाकर तिवारी जी को कन्या से कुछ नौकरी तो करवानी न थी, इसलिए सोना का पढ़ना बन्द करवा दिया गया।

अब सोना नौ साल की सुकुमार सुन्दर बालिका थी। उसकी सुन्दरता और सुकुमारता को देखकर गाँव वाले कहते— "तिवारी जी! तुम्हारी लड़की तो देहात के लायक नहीं है। इसका विवाह तो भाई ! कहीं शहर में ही करना। सुनते है, शहर में बड़ा आराम रहता है।"

इधर तिवारी जी की बहिन जानकी जिसका विवाह, हुआ तो गाँव में ही था, किन्तु कुछ दिन से वह शहर में जाकर रहने लगी थी। जब कभी शहर से चौड़े किनार की सफेद सारी, आधी बाँह का लेस लगा हुआ जाकेट, टिकली की जगह माथे पर लाल ईगुर की बिन्द और पैरों में काले काले स्लीपर पहिन के आती। तो सारे गाँव की स्त्रियाँ उसे देखने के लिए दौड़ आतीं। गाँव के तरुण जीवन में उसका आदर था और बूढ़ों की आँखों में वह खटकती थी। किन्तु फिर भी वह सब के लिए एक नई चीज थी। जानकी के पति नारायण ने भी मिल में नौकरी कर ली थी उसे २०, माहवार मिलते थे। वह अब देहाती न था, सोलह

आने, शहर का बाबू बन गया था। धोती की जगह ढीला पाजामा, कुरते की जगह कमीज, वास्कट, और कोट पहिनता, पगड़ी की जगह काली टोपी और पैरों में पम्प शू पहिनता था जब कभी गाँव में जाता कान में इत्र का फाया जरूर रहता कभी हिना कभी खश की मस्त खुशबू से बेचारे देहाती हैरान हो जाते। उन्हें अपने जीवन से शहर का जीवन बड़ा ही सुखमय और शान्तिदायक मालूम होता।

(२)

इन सब बातों को देखकर और सोना की सुकुमारता को देखते हुए सोना की मां नन्दों ने निश्चय कर लिया था कि मैं अपनी सोना का विवाह शहर में ही करूंगी। मेरी सोना भी पैरों में पतले पतले लच्छे और काले काले स्लीपर पहिनेगी। चौड़े किनार की सफेद सारी और लेस लगा हुआ जाकेट पहिन कर वह कितनी सुन्दर लगेगी इसकी कल्पना मात्र से ही नन्दो हर्ष से विह्वल हो जाती। किन्तु सोना को कुछ ज्ञान न था वह तो अपने देहाती-जीवन में ही मस्त थी। वह दिन भर मधुबाला की तरह स्वच्छन्द फिरा करती। कभी-कभी वह समय पर खाना खाने आ जाती और कभी तो खेल में खाना भी भूल जाती। सुन्दर चीजें इकट्ठी करने और उन्हें देखने का उसे व्यसन सा था। गांव में अपनी जोड़ की कोई लड़की उसे न मिलती इसलिए किसी लड़की से उसका अधिक मेल-जोल न था। नन्दों को सोना की यह स्वच्छन्द-प्रियता पसन्द न थी। किन्तु वह सोना को दबा भी न सकती थी। वह जब कभी सोना को इसके लिए कुछ कहती तो तिवारी जी उसे आड़े हाथों लेते, कहते—''लड़की है, पराए घर तो उसे जाना ही पड़ेगा। क्यों उसके पीछे पड़ी रहती हो। जितने दिन है खेल खा लेने दो। कुछ तुम्हारे घर जन्म भर थोड़े बनी रहेगी'' लाचार नन्दो चुप हो जाती।

धीरे-धीरे सोना ने बारह वर्ष पूरे करके तेरहवें में पैर रखा। किन्तु तिवारी जी का इस तरफ ध्यान ही न था। एक दिन नन्दो ने उन्हें छेड़ा—''सोना के विवाह की भी कुछ फिकर है?''

तिवारी जी चौंक से उठे, बोले—सोना का विवाह? अभी वह है कै साल की?

किन्तु यह कितने दिनों तक चल सकता था। लड़की का विवाह तो करना ही पड़ता। वैसे तो गाँव में ही कई ऐसे लड़के थे जिनमें सोना का विवाह हो सकता था। किन्तु नन्दों और तिवारी जी दोनों ही सोना का विवाह शहर में करना चाहते थे। शहर के जीवन का सुनहला सपना रह रह के उनकी आँखों में छा जाता था। उन्होंने जानकी ओर नारायण से शहर में कोई योग्य वर तलाश करने के लिए कहा।

इधर सोना बारह साल की हो जाने पर भी निरी बालिका ही थी अब भी। वही राजा-रानी का खेल खेला जाता। सुन्दर फुल पत्तियां अब भी इकट्ठी की जाती और

तितलियों के पीछे अब भी उसी प्रकार दौड़ लगती। सोना के अंग प्रत्यंग में धीरे-धीरे यौवन का प्रवेश प्रारम्भ हो चुका था किन्तु सोना को इसका ज्ञान न था। उसके स्वभाव में अब भी वही लापरवाही, वही अल्हड़पन और भोलापन था जो आठ साल की बालिका के स्वभाव में मिलेगा।

(३)

सोना का विवाह तै हो गया। वर की आयु २२ या २३ साल की थी। वे सुन्दर, स्वस्थ और चरित्रवान नवयुवक थे। एक प्रेस में नौकरी करते थे ७५/- माहवार तनख्वाह पाते थे। घर में एक बूढ़ी मां को छोड़कर और कोई न था। बिहार के रहने वाले थे। कुछ ही दिनों से यू०पी० में आए थे। परदा के बड़े पक्षपाती और पुरानी रूढ़ियों के कायल थे। नाम था विश्व मोहन। जब तिवारी जी ने विश्व मोहन और उनके घर को देखा तो उनकी खुशी का ठिकाना न रहा। विश्वमोहन, बाबू क्या पूरे साहब देख पड़ते थे। उनके घर में खिड़की और दरवाजों पर चिकें पड़ी हुई थीं। जमीन पर एक बड़ी दरी पड़ी थी जिसके बीच में एक गोल मेज थी। मेज के आस-पास कई कुर्सियां पड़ी थी। जब विश्व मोहन ने तिवारी जी से चाय पीने का आग्रह किया और तिवारी जी को उनके आग्रह से चाय पीनी ही पड़ी तो वहां का साज सामान देखकर तिवारी जी चकित हो गये। हर्ष से उनकी आंखें चमक उठीं। सुन्दर सुन्दर प्यालों में मेज पर चाय पीने का तिवारी जी के जीवन में पहिला ही अवसर था। चाय पीने के बाद तिवारी जी ने दो गिन्नी बरीक्षा में देकर शादी पक्की कर ली। रास्ते में नारायण बोला—कहो तिवारी जी है न लड़का हजारों में एक ? है कोई तुम्हारे गांव में ऐसा? जब कपड़े पहिन कर हैट लगा कर निकालता है तब कोई नहीं कह सकता कि साहब नहीं है। सब लोग झुक के सलाम करते हैं। घर में देखा? कितना परदा है। सब खिड़की दरवाजों पर चिकें पड़ी है। इनकी मां बूढ़ी हो गई हैं। पर क्या मजाल कि कोई परछांई भी देख ले। दोनों समय चाय पीते हैं, कुर्सियों पर बैठते हैं।

तिवारी जी ने हर्षोन्मत्त होकर कहा— भाई नारायण, हम तुम्हारे इस उपकार के सदा अभारी रहेंगे। हमारे ढूंढ़े तो ऐसा घर-वर कभी न मिलता। हम देहात के रहने वाले शहर का हाल-चाल क्या जाने? पर तुमने मेंरी सोना को अपनी लड़की सरीखी समझ कर जो उसके लिए इतनी दौड़-धूप की है और ऐसा अच्छा जोड़ मिला दिया है, इस उपकार का फल तुम्हें ईश्वर देगा।

नारायण— अच्छा तिवारी जी अब जाकर विवाह की तैयारी करो। देखना इन्हें खाने पीने का कुछ कष्ट न होने पावे। शहर के आदमी हैं सब तकलीफें सह लेंगे पर भूख नहीं सह सकेंगे। खाते भी अच्छा है। देहात की मिठाई उन्हें अच्छी न लगेगी कोई शहर का ही हलवाई ले जाकर मिठाई बनवा लेना, समझे।

तिवारी जी खुशी-खुशी घर लौटे। घर आकर जब उन्होंने नन्दों के सामने वर के रूप और गुण का बखान किया तो नन्दों फूली न समाई। वह जैसा घर-वर सोना के लिए चाहती थी ईश्वर ने उसकी साध पूरी कर दी। इस कृपा के लिए उसने परमात्मा को शतशः धन्यवाद दिए और नारायण को उसने कोटि कोटि मन से आर्शीवाद दिया जिसने इतनी दौड़-धूप करके मन चाहा घर और वर सोना के लिए खोज दिया था।

सोना ने जब सुना कि उसका विवाह हो रहा है तब वह दौड़ कर आई उसने मां से पूछा—

''मां! विवाह कैसा होता है और क्यों होता है''?

मां के सामने यह बड़ा जटिल प्रश्न था वह समझ ही न सकी कि इसका क्या उत्तर दे किन्तु चतुर जानकी ने तुरंत बात बना ली बोली—''सोना! विवाह हो जाने पर अच्छे अच्छे गहने कपड़े मिलते हैं इसी लिए विवाह होता है।

सोना— बुआ जी फिर क्या होता है?

जानकी— फिर सास के घर जाना पड़ता है सो मैं तुझे अपने साथ ले चलूँगी।

—''सो तो मैं पहिले ही से जानती थी, बुआ जी, कि विवाह करने पर सास के घर जाना पड़ता है। पर मैं न कहीं जाऊंगी अभी से कहे देती हूँ विवाह करो चाहे न करो'' कहती हुई सोना खेलने चली गई। नन्दू का मातृप्रेम आँखों में आँसू बन कर उमड़ आया बोली— ''अभी बचपना है बड़ी होगी तब सब समझेगी।''

जानकी—''फिर तो ससुराल से एक — दो दिन के लिए भी मायके आना कठिन हो जायगा भौजी! देखो न मैं ही चार-छै दिन के लिए आती हूँ तो रात-दिन वहीं की फिकर लगी रहती है। जहाँ गृहस्थी का झंझट सिर पर पड़ा सब खेलना-कूदना भूल जाता है। जब तक विवाह नहीं होता तभी तक का खेलना-खाना समझो।

नन्दो— ''जानकी दीदी! तुम लोगों की कृपा से मेरी सोना सुखी रहे। जैसे उसका नाम सोना है उसके जीवन में सोना ही बरसता रहे।

(४)

सोना का विवाह हो गया। रामधन तिवारी की लड़की का विवाह गांव भर में एक नई बात थी। इस विवाह में मंगलामुखी के स्थान पर आगरे से भजन-मंडली आई थी जो उपदेश के अच्छे अच्छे भजन गा के सुनाया करती थी। गहने कपड़े सब नए फैशन के थे। लंहगों का स्थान साड़ियों ने ले लिया था। जूते थे, मोजे थे, रूमाल थे, पाउडर की डिब्बी, सुगंधित तेल और भी न जाने क्या क्या था जिनकी नन्दो और जानकी ने कभी

कल्पना तक न की थी। गांव की औरतों को नन्दो बड़ी खुशी खुशी सब चीजें दिखाया करती। देखने-वाली सोना के सौभाग्य की सराहना करती हुई लौट जाती। उनकी आंखों में आज सोना से अधिक सौभाग्यवती कोई न थी। जिस दिन सोना को ससुराल के सब गहने कपड़े पहिना कर नन्दो ने पुत्री का सौंदर्य निहारा तो उसका रोम रोम पुलकित हो उठा। किसी की नजर न लग जाय इस डर से उसने छिपाकर बालों के नीचे एक काजल का टीका लगा दिया। जिसने सोना को देखा वही क्षण भर तक उसे देखता रहा। सोना सचमुच में सोना ही थी।

बिदा का समय आया। माँ-बेटी खूब रोई। जब सोना तिवारी जी की कमर से लिपट कर रोने लगी तो तिवारी जी का भी धैर्य्य जाता रहा वे भी जोर से रो पड़े। सोना की बिदा हो गई। विदा के बाद तिवारी जी को पुत्री के विछोह का दुःख भी था साथ ही साथ आत्मसंतोष भी कि पुत्री अच्छे घर व्याही गई है सुख में रहेगी।

सोना ससुराल पहुँची; रास्ते भर तो जैसे-तैसे किन्तु घर पहुँचने पर जब वह एक कोठरी में बंद कर दी गई, और बाहर की साफ हवा उसे दुर्लभ हो गई; तो उसे ससुराल का जीवन बड़ा ही कष्टमय मालूम हुआ। अब उसे गहने कपड़े न सुहाते थे। रह रह कर कोठरी से बाहर निकलकर साफ हवा में आने के लिए उसका जी तड़पने लगा। स्वच्छन्द, हवा में विचरने वाली बुलबुल की जो दशा पिंजरे में बंद होने के बाद होती है वहीं दशा सोना की थी। चार ही छै दिन में उसके गुलाबी गाल पीले पड़ गये, आंखें भारी रहने लगीं। एक दिन विश्वमोहन आफिस चले गये थे, सास सो रही थीं, सोना आंगन के बाहर के दरवाजे के पास चली आई। चिक को जरा हटा कर बाहर देखा। यहाँ देहात की सुन्दरता तो न थी फिर भी साफ हवा अवश्य थी। इतने दिनों के बाद क्षण भर के ही लिए क्यों न हो बाहर की हवा लगते ही सोना का चित्त प्रफुल्लित हो गया। किन्तु उसी समय एक बुढ़िया उधर से निकली। सोना को उसने चिक के पास देख लिया। आकर विश्वमोहन की मां से उसने कहा— "बहू को जरा सम्हाल के रखा करो। न साल न छै महीने अभी से खड़ी हो के बाहर झांकती है। यह लच्छन कुलीन घर की बहू बेटियों को शोभा नहीं देते। विस्सू की अम्मा! तुम्हारी इतनी उमर हो गई आज तक किसी ने परछाई तक न देखी और तुम्हारी ही बहू के ये लच्छन! कलजुग इसी को कहते हैं।" बुढ़िया तो उपदेश देकर चली गई पर सोना को उस दिन बड़ी डांट पड़ी। उसकी समझ में ही न आता था कि चिक के पास जाकर उसने कौन-सा अपराध कर डाला। फिर भी बेचारी ने नतमस्तक सभी झिड़कियाँ सहलीं। और दूसरा चारा ही क्या था? इसी बीच जब तिवारी जी सोना को लेने आए तो उसे ऐसा जान पड़ा जैसे किसी ने डूबते से उबार लिया हो। पिता को देखकर वह बड़ी खुश हुई। उसने मन ही मन प्रतिज्ञा की कि अब के जाऊँगी तो फिर यहाँ कभी न आऊँगी।

(५)

लेकिन शहरवाले बहू को मायके में ज्याद: रहने ही कब देते हैं? सोना को मायके आए अभी १५ दिन भी न हुए थे कि विश्वमोहन सोना को लेने के लिए आ गए। वे जब आ रहे थे, सोना उन्हें रास्ते में ही बिही के पेड़ पर चढ़ी हुई मिली। उसके साथ और भी बहुत से लड़के लड़कियाँ थी। सोना का सर खुला था और वह बिही तोड़ तोड़ कर खा रही थी, और अपनी जूठी बिही खींच खींच कर मारती भी जा रही और ऊपर बैठी-बैठी हंस रही थी। सोना को विश्वमोहन ने देखा, किन्तु सोना उन्हें न देख सकी। पुत्नी की चाल ढाल विश्वमोहन को न सुहाई उनकी आखों में खून उतर आया पर वे चुपचाप अपने क्रोध को पी गए। किन्तु उसी समय उन्होंने मन ही मन प्रतिज्ञा की अब वे सोना को मायके कभी न भेजेंगे। वे जाकर चौपाल में मोढ़े पर बैठे ही थे कि अपने बालसखा और सहेलियों के साथ सोना भी पहुँची। विश्वमोहन को देखते ही उसने हाथ की बिही फेंक दी और सिर ढंक कर अन्दर भाग गई। फिर ससुराल जाना पड़ेगा इस भावना मात्र से ही उसका हृदय व्याकुल हो उठा।

सोना फिर ससुराल आई अबकी बार आने के साथ ही घर का सारा भार सोना को सौंप कर सोना की सास ने घर-गृहस्थी से छुट्टी ले ली। कभी घर का काम करने का अभ्यास न होने के कारण सोना को घर के काम करने में बड़ी दिक्कत हाती, इसके लिए उसे रोज सास की झिड़कियाँ सहनी पड़ती। सोना ने तो खेलना, खाना, और तितली की तरह उड़ना ही सीखा था। गृहस्थी की गाड़ी में उसे भी कभी जुतना पड़ेगा यह तो उसने कभी सोचा ही न था। किन्तु यह कठिनता महीने पन्द्रह दिन की ही थी। अभ्यास हो जाने पर फिर सोना को काम करने में कुछ कठिनाई न पड़ती ।

घर में रात दिन बंद रहने की उसकी आदत न थी। बाहर जाने के लिए उसका जी सदा व्याकुल रहता। यदि कभी खिलौने वाले की आवाज सुनती या ''चनाजोर गरम'' की आवाज उसके कान में पड़ती तब वह तड़प सी जाती। अपना यह कैदखाने का जीवन उसे बड़ा ही कष्टकर मालूम पड़ता। किन्तु सोना बहुत दिनों तक अपने को न रोक सकी। वह सास और पति की आँख बचा कर गृह-कार्य के पश्चात् कभी खिड़की कभी दरवाजे के पास, जब जैसा मौका मिलता; जाकर खड़ी हो जाती बाहर का दृश्य, हरे हरे पेड़ और पत्तियाँ देखकर उसे कुछ शान्ति मिलती। बाहर ठंडी हवा को स्पर्श करके उसमें जैसे कुछ जीवन आ जाता। वह जानती थी कि खिड़की या दरवाजे के पास वह कभी किसी बुरे उद्देश्य से नहीं जाती, फिर भी पति नाराज होंगे, सास झिड़कियाँ लगावेंगी इसलिए वह सदा उनकी नजर बचा कर ही यह काम करती। मुहल्ले वालों को यह बात सहन न हुई। कल की आई हुई बहू, बड़े घर की बहू, सदा खिड़की-दरवाजों से लगी रहे। अवश्य ही -यह आचरण भ्रष्ट है। धीरे-धीरे आस-पास के लोगों में सोना के आचरण की चर्चा होने

लगी। पुराने विचार वाले, पर्दा के पक्षपातियों को सोना की हरएक हरकत में बुराई छोड़ भलाई नजर ही न आती थी। मुहल्ले के बिगड़े दिल शोहदे, सोना के दरवाजे पर से दिन में कई बार चक्कर लगाते और आवाजे कसते।

किन्तु न तो सोना का इस तरफ ध्यान होता और न उसे उसकी कुछ परवाह थी। वह तो प्रकृति की पुजारिन थी। खिड़की-दरवाजों के पास वह प्रकृति की शोभा देखती थी; लोगों की ओर तो उसका ध्यान भी न जाता था।

इसी बीच में, किसी काम से सोना की सास को कुछ दिन के लिए गाँव पर जाना पड़ा। अब पति के आफिस जाने के बाद से उसे पूरी स्वतंत्रता थी। उनके आफिस जाने के बाद वह स्वच्छन्द हिरनी की तरह फिरा करती थी। कोई रोक-टोक करने वाला तो था ही नहीं, अब कभी कभी वह चिक के बाहर भी चली जाया करती। आस-पास की कई औरतों से जान-पहिचान भी हो गई। वे लोग सोना के घर आने-जाने लगीं। सोना भी कभी कभी लुक-छिप के दोपहर के सन्नटे में उन के घर हो आती। सोना के बारे में; उसके आचरण के विषय में लोग क्या बकते हैं सोना न जानती थी। वह तो उन्हें अपना हितैषी और मित्र समझती थी। वहीं लोग, जो सोना से घुल मिलकर घंटों बातचीत किया करते, बाहर जाकर न जाने क्या बकते। धीरे-धीरे इसकी चर्चा विश्वमोहन के भी कानों तक पहुँची। इन सब बातों को रोकने के लिए उन्होंने अपनी माँ की उपस्थिति आवश्यक समझी। इसलिए माँ को बुलवा भेजा। साथ ही सोना को भी समझा दिया कि वह बुलवा भेजा। साथ ही सोना को भी समझा दिया कि वह बहुत सम्हल कर रहा करे। सास के आने पर सोना के ऊपर फिर से पहरा बैठ गया। किन्तु वह तो गाँव की लड़की थी; साफ हवा में विचर चुकी थी। उसके लिए सख्त परदे में, बिलकुल बन्द होकर रहना बड़ा कठिन था। इसलिए उसका जीवन बड़ा दु:खी था। उससे घर के भीतर बैठा ही न जाता था। जरा मौका पाते ही बाहर साफ हवा में जाने के लिए उसका जी मचल उठता। और वह अपने आप को रोक न सकती। विश्वमोहन ने एकान्त में उसे कई बार समझाया कि सोना के इस आचरण से उनकी बहुत बदनामी हो रही है इसलिए वह खिड़की-दरवाजों के पास न जाया करे, बाहर न निकला करे। एक दो दिन तक तो सोना को उनकी बातें याद रहतीं किन्तु वह फिर भूल जाती और वही हाल फिर हो जाता। फिर खिड़की दरवाजों के पास जाती फिर बाहर की साफ हवा में जाने के लिए, प्रकृति के सुन्दर दृश्यों को देखने के लिए; उसकी आँखें मचल उठतीं।

एक दिन विश्वमोहन को किसी काम से शहर के बाहर जाना था। सोना ने पति का सामान ठीक कर उन्हें स्टेशन रवाना किया। सास खाना खा चुकने के बाद लेट गई। सोना ने अपनी गृहस्थी के का धंधे समाप्त करके, कंघी चोटी की, कपड़े बदले, पान बना के खाया, फिर एक पुस्तक लेकर पढ़ने के लिए खाट पर लेट गई। पुस्तक कई बार की पढ़ी हुई थी; दो चार पेज उलट-पलट कर देखे जी न लगा। उसी समय ठेले वाले ने

आवाज दी "दो पैसे वाला" "दो पैसे वाला" "सब चीजें दो-दो पैसे में लो।" किताब फेंक कर सोना दरवाजे की तरफ दौड़ी ठेले वाला दूर निकल गया था; दूर तक नजर दौडाई; कहीं भीं न देख पड़ा निराश होकर लौटने ही वाली थी कि पड़ोस ही में रहने वाला बनिए का लड़का फैजू दौड़ा हुआ आया बोला — भौजी! सुई तागा हो तो जरा मेरे कुर्ते में बटन टाँक दो मैं कुश्ती देखने जाता हूँ।

सोना ने पूछा— कुश्ती देखने जाते हो कि लड़ने?

फैजू ने मुस्कुरा कर कहा— दोनों काम करने भौजी! पर पहिले बटने तो टाँक दो नहीं तो देरी हो जायगी।

सोना सुई तागा लाकर बटन टाँकने लगी। फैजू वही फर्श पर सोना से जरा दूर हटकर बैठ गया।

(६)

गाड़ी तीन घंटे लेट थी। विश्वमोहन ने सोचा यहाँ बैठे-बैठे क्या करेंगे चलें जब तक घर में ही बैठकर आराम करेंगे। सामान स्टेशन पर ही छोड़कर, स्टेशन मास्टर की साइकिल लेकर विश्वमोहन घर पहुँचे। बैठक में फैजू को सोना के पास बैठा देखकर उनके बदन में आग सी लग गई। वे क्षण भर वहीं खड़े रहे। परन्तु इस दृश्य को वे गवारा न कर सके। अपने गुस्से को चुपचाप पीकर अन्दर आए माता के पास बैठ गए। सोना से पति की नाराजी छिपी न रही। ज्यों त्यों किसी प्रकार बटन टाँक कर कुरता फैजू को देकर वह अन्दर आई। सोना ने स्वप्न में भी न सोचा था कि यह जरा सी बात यहां तक बढ़ जायगी। पति का चेहरा देख कर वह सहम सी गई। उनकी त्योरियाँ चढ़ी हुई, चेहरा स्याह, और आखें कुछ गीली थीं। सोना अन्दर आई विश्व मोहन ने उसकी तरफ आँख उठाकर भी न देखा। उसने डरते डरते पति से पूछा — कैसे लौट आए?

विश्वमोहन ने रूखाई से दो शब्दों में उत्तर दिया—गाड़ी लेट है।

सोना ने फिर छेड़ा— अब कब जाओगे?

विश्वमोहान के एक तीव्र दृष्टि पत्नी पर डाली और कठोर स्वर में बोले-गाड़ी तीन घंटे बाद जायगी तब चला जाऊँगा।

सोना फिर नम्रता से बोली — तो इस प्रकार बैठे कब तक रहोगे? मैं खाट बिछाए देती हूँ आराम से लेट जाओ।

"तुम्हें कष्ट करने की आवश्यकता नहीं मैं बहुत अच्छी तरह हूँ" विश्वमोहन ने कड़े स्वर में रूखाई से कहा। सोना के बहुत आग्रह करने पर विश्वमोहन ने कमरे में पैर रखा; न वे कुछ बोले और न खाट पर ही लेटे; कुर्सी पर बैठ गए। एक पुस्तक उठाकर उसके पन्ने उलटने लगे। पढ़ने के नाम से कदाचित् एक अक्षर भी न पढ़ सके हों किन्तु इस प्रकार

वे अपनी अन्तर-वेदना को चुपचाप लहू को घूंट की तरह पी रहे थे। सोना का आचरण उन्हें हजार बिच्छुओं के दंशन की तरह पीड़ा पहुँचा रहा था। पति की आंतरिक वेदना सोना से छिपी न थी वह जरा खिसक कर उनके पास बैठ गई। धीरे से उसने अपना सिर विश्वमोहन के पैरों पर धर दिया बोली—

"—इस बार मुझे माफ करो अब तुम जो कुछ कहोगे मैं वही करूँगी मुझ से नाराज न होओं।"

जगत मोहन के पैरों पर जैसे किसी ने जलती हुई आग धर दी हो, जल्दी से उन्होंने अपने पैर समेट लिए और तिरस्कार के स्वर से बोले— यह बात आज क्या तुम पहिली ही बार कह रही हो? यह मौखिक प्रतिज्ञा है हृदय की नहीं। मैं सब जानता हूँ। तुम्हारे कारण तो मैं शहर में सिर उठाने लायक नहीं रहा। जिधर जाओंह्व उधर ही लोग तुम्हारी चर्चा करते हुए देख पड़ते है। मेरे, तुम्हारे, मुँह पर कोई कुछ नही कहता तो क्या हुआ बाद में तो कानाफूसी करते हैं। तुम्हारे ऊपर तो जैसे इसका कुछ असर ही नहीं पड़ता ।जो जी में आता है करती हो। भला वह शोहदा तुम्हारे पास बटन टँकवाने क्यों आया? क्या तुम इन्कार न कर सकती थीं? तुम यदि शह न दो तो कैसे कोई तुम्हारे पास आवे"।

सोना ने भय-कातर दृष्टि से पति की ओर देखते हुए कहा— जरा सा तो काम था। पड़ोसी-धर्म के नाते, मैंने सोचा कि कर ही देना चाहिए। नहीं तो इन्कार क्यों नहीं कर सकती थी?

"इसी प्रकार जरा जरा सी बातों से बड़ी बड़ी बातें भी हो जाया करती हैं। निभाया करो पड़ोसी -धर्म, मेरी इज्जत का ख्याल मत करना" कहते हुए विश्वमोहन बाहर चले गए। साइकिल उठाई और स्टेशन चल दिए।

आहत-अपमान से सोना तड़प उठी। वह कटे हुए वृक्ष की भाँति खाट पर गिर पड़ी और खूब रोई। रो लेने के बाद उसका जी कुछ हलका हुआ। उसे अपने गाँव का स्वच्छन्द जीवन याद आने लगा। देहाती जीवन की सुखद स्मृतियाँ एक एक करके सुकवि की सुन्दर कल्पना की भाँति उसके दिमाग में आने लगीं। उसे याद आया किस प्रकार जाड़े के दिनों में अलाव के पास, न जाने कितनी रात तक, बूढे, जवान, युवतियाँ और बच्चे सब एक साथ बैठकर आग तापते हुए पहेलियाँ बुझाते और किस्सें कहानियाँ कहा करते थे। किसी के साथ किसी प्रकार का बन्धन न था। नदी पर गाँव भर की बहू-बेटियाँ कैसे स्नान करने को जाती थीं और फिर सब एक साथ गाती हुई लौटती थीं; कितना सुखमय जीवन था वह। चने के खेत में नर्म नर्म चने की भाजी तोड़ कर सब एक साथ ही किस प्रकार खाया करते थे और कभी कभी छीना-झपटी भी हो जाया करती थी। हँसी-मजाक भी खूब होता था। किन्तु वहाँ किसी को कुछ शिकायत न थी। अपने पड़ोसी कुंदन के लिए वह माँ से लड़भिड़ कर भी मिठाई ले जाया करती थी। नदी पर नहाने के बाद कभी-कभी कुंदन उसकी धोती भी तो धो दिया करता था। किन्तु वहाँ तो इसकी कभी चर्चा भी नहीं हुई।

क्रोशिये से एक सुन्दर सा पोत का बटुआ बना कर सबके सामने ही तो उसने कुन्दन को दिया था। जो अब तक उसके पास रखा होगा, पर वहाँ तो इस पर किसी को भी बुरा न लगा था। वहाँ सब लोगों को सब से बोलने, बात करने की स्वतंत्रता थी। कुन्दन की भाभी नई ही नई तो विवाह करके आई थी, पर हम लोगों के साथ ही रोज नदी नहाने जाया करती थी, और साथ बैठकर झूला भी झूला करती थी; अलाव के पास भी बैठा करती थी। फिर मैंने कौन सा ऐसा पाप कर डाला, जिसके कारण इन्हें शहर में सर उठाने की जगह नहीं रही। यदि किसी का कुछ काम कर देना, बोलना, या बातचीत करना ही पाप है; तो कदाचित् यह पाप जाने अनजाने मुझसे सदा ही होता रहेगा। मेरे कारण इन्हें पग पग पर लांछित होना पड़े, तो मेरे इस जीवन का मूल्य ही क्या है। ऐसे जीवन से तो मर जाना अच्छा है। मैं घर के अन्दर परदे में नहीं बैठ सकती यही तो मेरा अपराध है न? इसी के कारण तो लोग मेरे आचरण तक में धब्बे लगाते हैं? मैं लोगों से अच्छी तरह बोलती हूँ, प्रेम का व्यवहार रखती हूँ, यही तो मुझमें बुराई है न? आज उन्हें मुझ पर क्रोध आया; उन्होंने तिरस्कार के साथ मुझे झिड़क दिया। इसमें उनका कोई कसूर नहीं है। पत्थर के पाट पर भी रस्सी के रोज रोज के घिसने से निशान पड़ ही जाते हैं; फिर वे तो देव तुल्य पुरुष हैं। उनका हृदय तो कोमल है, इन अपवादों का असर कैसे न पड़ता? रामचन्द्र जी सरीखे महापुरूष ने भी तो जरा सी ही बात पर गर्भवती सीता को बनवास दे दिया था। फिर ये तो साधारण मनुष्य ही हैं। इन्होंने तो जो कुछ कहा ठीक ही कहा। पर इसमें मेरा भी कौन सा दोष है किन्तु जब उन्हीं के हृदय में सन्देह ने घर कर लिया तो मै तो जीती हुई भी मरी से गई बीती हूँ। इसी प्रकार अनेक तरह के संकल्प विकल्प सोना के मस्तिष्क में आए और चले गए।

(७)

तीन दिन के बाद विश्वमोहन लौटे। जाने के पहिले उनमें और सोना मे जो कुछ बात-चीत हुई थी, वे उसे प्राय: भूल से गए थे। सोना के लिए अच्छी सी साड़ी एक जोड़ी पैरों के लिए सुन्दर से स्लीपर और कुछ हेयर-क्लिप लिए हुए वे घर आए; किन्तु सामने ही चबूतरे पर उन्हें फैजू बैठा हुआ मिला। पास की हरी हरी घास पर वह अपना तीतर चरा रहा था। विश्वमोहन उसे देखते ही तिलमिला से उठे; संदेह और भी गहरा हो गया। सारी बातें ज्यों की त्यों फिर ताजी हो गई। उनका हृदय बड़ा ही विचलित और अथित हुआ न जाने कितनी प्रकार की शंकाएँ उन्हें व्याकुल करने लगीं। उनका चेहरा फिर गंभीर हो गया। घर आकर वे सोना से एक बात भी न कर सके। माँ से एक दो बातें कर, बिना भोजन किए ही वे आफिस चले गए। सोना से यह उपेक्षा न सही गई। पिछले तीन दिनों से वह खिड़की-दरवाजों के पास भी न गई थी; और उसने यह निश्चय कर लिया था कि अब वह कभी भी खिड़की-दरवाजों के पास न जायगी। किन्तु विश्वमोहन की इस उपेक्षा ने उसके

हृदय के घाव को और भी गहरा कर दिया! सोना अब इससे अधिक न सह सकती थी अपनी जीवन-लीला समाप्त करने का उसे कोई साधन न मिला। आँगन मे लगे हुए धतूरे के पेड़ से उसने दो-तीन फल तोड़ लिये और पीस कर पी गई। कुछ ही क्षण बाद सोना के हाथ-पैर अकड़ने लगे, उसकी जबान ऐंठ गई; और चेहरा काला पड़ गया। वह देखती थी किन्तु बोल न सकती थी। इसी समय तिवारी जी आ पहुँचे, वे सोना को बिदा कराने आए थे। सोना पिता को देखकर बहुत रोई सारे घर में भी कुहराम मच गया और देखते ही देखते सोना के प्राण पखेरू उड़ गए। यह ऐसी नींद थी जिसने सोना को सदा के लिए शान्ति दे दी तथा अपवादों की विषैली वायु उसे छू भी न सकती थी।

शाम को छः बजे विश्वमोहन आफिस से लौटे। घर में रोने की आवाज सुनकर किसी अज्ञात आशंका से उनका हृदय विचलित हो उठा। घर में आकर देखा तिवारी जी कन्या की लाश गोद में लिये हुए ढ़ाड़ें मार मार के रो रहे हैं। तिवारी जी इस बीच कई बार कन्या को लेने आ चुके थे किन्तु विश्वमोहन ने विदा न की थी। विश्वमोहन और तिवारी जी से कोई विशेष बातचीत न हुई, अन्तिम संस्कार की तैयारी होने लगी। अन्तिम संस्कार के बाद जब विश्वमोहन लौटे तो मेज, पर उन्हें सोना का पत्र मिला—

"मेरे देवता! मै मर रही हूँ। किन्तु साथ ही विश्वास दिलाती हूँ कि मैं निर्दोष हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि या तो यह दुनिया मेरे लायक नहीं है या मैं ही इस दुनिया के योग्य नहीं हूँ। इस छल कपट से परिपूर्ण संसार में मुझे भेजकर शायद विधाता ने भूल की थी। मुझे अपने मरने का अफसोस नहीं। कोई दुःख है तो केवल इस बात का कि मैं आपको कभी सुखी न कर सकी।

–अभगिनी सोना

('बिखरे मोती' ग्रन्थ से)





❑ पुण्य स्मरण : (श्री नरेश मेहता)

उत्तरकथा : लीला और यथार्थ

• **नरेन्द्र कोहली**

उपन्यास के आरंभ में मालवा क्षेत्र की भूवैज्ञानिक उथलपुथल का इतिहास पढ़कर पाठक के मन में एक बार यह प्रश्न तो उठता ही है कि इस क्षेत्र के इस सारे इतिहास की उपन्यास में क्या आवश्यकता थी ? उपन्यास की कथा तो उन घटनाओं के सहस्त्रों वर्ष बाद आरम्भ होती है– दुर्गा के विवाह के समय। ध्यातव्य है कि उस विवाह में घराती और बराती दोनों हैं। गांव वाले भी हैं। वर और वधू भी हैं। मायके और ससुराल पक्ष के लोग भी हैं। किंतु सारे घटनाचक्र की सूत्रधार तो प्रकृति ही है। दुर्गा के पिता श्रीरमण आचार्य और माता गोदावरी देवी ने अपनी ओर से विवाह का सारा प्रबंध किया था। तीनों भाइयों ने भागदौड़ की थी। बरातियों के स्वागत का प्रबंध था। अच्छे खाते पीते घर की लड़की के सम्मान के उपयुक्त दहेज का प्रबंध भी था। किंतु हुआ वही, जो प्रकृति ने चाहा। उस तपती गर्मी में, असहनीय प्यास के बावजूद बराती, कन्या के घर का एक घूंट जल भी नहीं पी सके। हैजे का ऐसा प्रकोप हुआ कि गांव के गांव खाली हो गए। ऐसे समय में लोग अपने प्राण बचाते अथवा उत्सव और समारोह का आग्रह करते। समाधियों के घर के भोजन का स्वाद लेते अथवा उसके माध्यम से अपनी मृत्यु को आमंत्रित करते।

उपन्यास की भूमिका में लेखक ने कहा है, ''मनुष्य की ही नहीं, सृष्टि की भी अपनी सत्ता, अस्मिता और संकल्प है।'' उसी सत्ता, अस्मिता और संकल्प से इस उपन्यास की कथा आरंभ होती है। स्वामी विवेकानन्द से उनके शिष्य खेतड़ी नरेश अजितसिंह ने पूछा था कि 'नियम' क्या है ? स्वामी जी ने कहा था, 'नियम पहले से प्रकृति में है। हम अपनी बुद्धि और इन्द्रियों से उसकी जानकारी प्राप्त करते हैं। वस्तुतः आधुनिक विज्ञान सांख्य के सिद्धान्तों की ही पुष्टि कर रहा है।....नियम स्वयं भी चैतन्य है और निरपेक्ष चेतना में ही उत्पन्न होता है।''

''नियम स्वयं भी चैतन्य है।'' इसका अर्थ है, वह स्वयं अपने आपको लागू करता है। उसे लागू करने के लिए किसी अन्य सत्ता की आवश्यकता नहीं होती। हम जीवन के नियम को जाने बिना जिएंगे, तो भी सारा जीवन प्रकृति के नियम के अनुसार, और उसके अधीन ही चलेगा। जहाँ हम नियम का उल्लंघन करेंगे, नियम की अपनी सत्ता ही हमें रोक देगी, क्योंकि वही ईश्वर की इच्छा है, वही ईश्वर की आज्ञा है।....

उपन्यास के अंतिम पृष्ठों में एक प्रकार से कथा का समाहार करते हुए नरेश मेहता ने कहा है, "हम समझ लेते हैं कि मानवीय जीवन चक्र से पृथक न प्रकृति, न सृष्टि, न इतर प्राणी—किसी की भी सत्ता है, न इतिहास। पर क्या यह वास्तविकता है? यह सृष्टि क्या किसी मानवीय संविधान के अंतर्गत चल रही है? क्या मानवीय क्रांतियाँ दूब सी इतनी गहरी कि इस धरती पर उग सकी? तब?" और अपने इस 'तब'? का उत्तर देते हुए वे कहते हैं, "मानवीय नियमों से बड़ा है, 'ऋत' जिससे यह सृष्टि ही नहीं, परात्परता भी नियमित हो रही है।"

'ऋत' हमारे चिंतन का आरंभिक बिंदु है। इस सृष्टि में कुछ भी अकारण नहीं है। ऋषि बता गए हैं कि सत्ता केवल चैतन्य ब्रह्म की है; और वह निष्क्रिय है। जिस क्षण वह सक्रिय होता है, प्रकृति का रूप धारण कर लेता है। स्वामी विवेकानन्द का मानना है कि सृष्टि का सृजन (क्रिएशन) नहीं होता, प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) होता है। प्रकृति को चाहे हम जड़ मानते रहें; किंतु वह चैतन्य ब्रह्म का ही परिवर्तित रूप है। इसलिए प्रकृति में कुछ भी अकारण नहीं है। वहाँ सब कुछ नियमाधीन है। जहाँ तक कार्य-कारण का व्यापार है, वहाँ तक प्रकृति का राज्य है। इसलिए हम सब बद्धजीव कर्म के क्षेत्र में स्वतंत्र होते हुए भी उस कार्य-कारण यंत्र के बंदी हैं।

'उत्तर कथा' में प्रकृति ने आरंभ में ही अपना रूप और इच्छा प्रकट कर दी है। उसे सबने देखा है। रामकृष्ण परमहंसदेव कहते हैं कि यह माया की सृष्टि है। इसलिए सत्य सामने होते हुए भी हम सत्य को देख और समझ नहीं पाते। उपन्यास के अनेक पात्र उन घटनाओं के साक्षी रहे हैं, किंतु देखा उसे केवल पंडित शिवशंकर आचार्य ने है। उस सत्य का साक्षात्कार करने के कारण उनका चरित्र एक विशेष रूप ग्रहण करता है। "आसक्ति और अनासक्ति का अजीब व्यवहार शिवशंकर में दिखाई देने लगा । आसक्ति एक रक्षक के रूप में थी और अनासक्ति एक व्यक्ति के रूप में। उनके सारे व्यवहार–आचरण से लगता था कि खेत खलिहान, अनाज, फसल, लेन-देन, घर-बाड़ी सब को मां की सम्पत्ति समझते थे, और एक पुत्र के नाते उनका कर्तव्य था कि चूंकि अब पिता नहीं थे, इसलिए संपत्ति की समुचित देख-रेख करके मां को पूर्णत: संतुष्ट रखना।" उनके व्यक्तित्व का मूल मंत्र रेखांकित करते हुए लेखक ने कहा है, "सांसारिक वयस्कता के साथ उनमें का आध्यात्मिक व्यक्तित्व भी जाग्रत हो उठा।" अपने उस आध्यात्मिक व्यक्तित्व के कारण ही वे कह सके, "जिजी" जैसा संसार उजड़ते तुमने देखा, उसके बाद भी तुम्हारा मन इस संसार में, इस माया में लगा हुआ है।... इस सांसारिकता से किसका भला हुआ है, जो हमारा तुम्हारा होगा?.....यहाँ बहुत रहने की चिंता करने वाला ही सबसे पहले नहीं रहता है जिजी।"

श्वेताश्वर उपनिषद् में ऋषि ने कहा है ; "सदा साथ रहने वाले, परस्पर सख्य भाव रखने वाले, दो सुपर्ण एक ही वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनों में से एक तो उस वृक्ष के फलों को स्वाद ले लेकर खाता है। दूसरा उनका उपभोग न करता हुआ, द्रष्टा भाव से केवल देखता रहता है। पंडित शिवशंकर आचार्य की स्थिति दूसरे सुपर्ण की सी है। वे द्रष्टा भाव से जीवन को देख रहे हैं। अपने स्वरूप को भी समझ रहे हैं। और अपने स्वरूप का आभास पाकर वे गायत्री से कहते हैं, "गायत्री" मैं इस जल, पृथ्वी, आकाश को तथा सर्व भूतात्मकता को अपने पर भस्मवत् धारण कर रहा हूँ। काल के अकल्पनीय तीव्रातितीव्र को देखने के लिए, आदित्य, सविता, ये समस्त तारकदल, मेरे नेत्र हैं। समस्त जड़ और चेतन में अबाध रूप से उपस्थित तथा बीतता हुआ, मेरा यह कालरूप पुरुष है। उस पुरुष की प्रतीति वाणी नहीं करा सकती, नेत्र जिसे देख नहीं सकते, श्रवण उसे सुन नहीं सकते, स्पर्श के परे है.... "ऐसा नहीं लगता कि शिवशंकर यह सब कुछ अपने भौतिक रूप के विषय में कह रहे हैं। यह तो उस व्यक्ति का वक्तव्य है, 'जो स्वरूप' का साक्षात्कार कर चुका है। जो जान चुका है कि वह यह पंचभूतों का शरीर, अथवा यह नाम और रूप नहीं है। वह शाश्वत और अनश्वर चैतन्य है। वह आत्मा है और परमात्मा का अंश है। वह उस धरातल से बोल रहा है, जिस धरातल पर स्थित होकर श्रीकृष्ण ने गीता का उच्चारण किया था। यह तो चैतन्य शिव बोल रहे हैं, जो भस्मवत भौतिकता को धारण करते हैं। स्वयं को अभिव्यक्त करने के लिए अर्थ शब्द का शरीर धारण करता है। चैतन्य शिव को स्वयं को अभिव्यक्त करने के लिए स्थूल प्रकृति-पार्वती-की आवश्यकता होती है।

पंडित शिवशंकर आचार्य के चरित्र के रेखांकन में कहीं कोई कमी रह गई थी तो उसे स्वामी जी की उक्तियों ने संपूर्णता प्रदान कर दी। वे कहते हैं, "अपने स्वरूप को पहचानो। नारायण कहीं अन्यत्र नहीं है। भूषा का नहीं, मन का संन्यासी ही वास्तविक है। अग्नि है, जितना ईंधन डालोगे, उतना ही यज्ञ संपन्न होगा।"

"ईंधन से तात्पर्य?" बहुत ही साहस कर पंडित शिवशंकर आचार्य ने पूछा।

"कर्म"

"जो बंधन का कारण होता है?"

"आसक्ति होने पर बंधन है। निष्काम कर्म, बंधन नहीं मुक्ति है। यद्यपि मुक्ति भी बंधन है। कर्म करते हुए, कर्त्ता का भाव न हो, तो न बंधन है, न मुक्ति। यही सन्यास है। अपने स्वरूप को जानना ही साक्षात है, दर्शन है। तुम जिस पथ पर हो, वही तुम्हारे लिए उचित है। सेवा, प्रार्थना और कर्तव्य। यही तुम्हारी दिशा होनी चाहिए।"

"और संसार"

"संसार तो दीमक है। समय समय पर झाड़ते पोंछते रहोगे, तो भय नहीं है। तुम सेवा के लिए ही आए हो। दीन हीन संत्रस्त प्राणियों के प्रति किए गए कर्म से बड़ी न प्रार्थना है और न कोई पूजा।"

लगता है कि स्वामी जी श्रीमद्‌भगवदगीता के निष्काम कर्म के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन कर रहे हैं। कर्म के बिना जीवन संभव नहीं है। और कर्म ही हमें बांधता भी है। ऐसे में कर्मबंधन के बिना मनुष्य कर्म कैसे करे, उसके लिए कर्मयोग और कर्मसन्यास का उपदेश दिया गया। यह वस्तुतः प्रवृत्ति और निवृत्ति के मध्य का मार्ग है। स्वामी विवेकानन्द की यह दृढ़ मान्यता है कि निष्काम कर्म, निष्काम प्रेम और निष्काम भक्ति के सिद्धांतों के आविष्कारक श्रीकृष्ण थे। उनसे पूर्व इन तीनों का ही उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इस उपन्यास में इन तीनों के ही प्रतिनिधि पंडित शिवशंकर आचार्य हैं।

पंडित शिवशंकर आचार्य और गायत्री का संबंध पाठक के लिए कुछ कठिनाई उत्पन्न करता है। सांसारिकता के अभाव में नारी का आकर्षण कोई अर्थ नहीं रखता। यह संबंध पर्याप्त प्रौढ़ अवस्था में हुआ, जब सामान्य सांसारिक मनुष्य भी कामभाव से कुछ मुक्त हो चुका होता है, और फिर गायत्री देवी एक प्रकार से परायी स्त्री थीं। वे स्वकीया नहीं थीं। यह ध्यातव्य है कि शिवशंकर आचार्य को गायत्री मंत्र सिद्ध था और उनके जीवन में इस प्रकार समर्पित होकर जो स्त्री आई, वे भी गायत्री ही थीं।

इस उपन्यास को पढ़ते हुए मेरे मन में निरंतर पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास 'अनामदास का पोथा' घुमड़ता रहा है। मुझे इन दोनों उपन्यासों में कई प्रकार की समानता दिखाई पड़ी है। 'अनामदास का पोथा' के नायक रैक्व मुनि इस सीमा तक तपस्वी, ब्रह्मचारी अथवा बैरागी हैं कि उन्होंने कभी 'नारी' देखी ही नहीं है। देखते हैं तो कहते हैं कि पद को तो जानता था किंतु पदार्थ को नहीं जानता था। पंडित शिवशंकर भी विवाह नहीं करना चाहते। नारी के कामिनी रूप के प्रति उनके मन में कोई आकर्षण नहीं है। इन दोनों ही उपन्यासों में वैराग्य का समर्थन और आसक्ति का विरोध तो है; किंतु न तो नारी का विरोध है, न परिवार का। इसीलिए शिवशंकर गायत्री से आत्मीयता का अनुभव करते हैं और रैक्व राजकुमारी से। रैक्व तो विवाह के लिए भी प्रस्तुत हैं, क्योंकि नारी के बिना पुरुष अधूरा है और पुरुष के बिना नारी। किंतु विवाह के स्थान पर उनके गुरु 'उद्वाह' का समर्थन करते हैं, जिसमें पति, पत्नी और पत्नी, पति को ऊपर की ओर वहन करती है। अर्थात वे दोनों परस्पर एक दूसरे की आध्यात्मिक चेतना को परिष्कृत करते हैं। उद्वाह अपने सुख और भोग के लिए नहीं है। कदाचित वह संतान उत्पन्न करने के लिए भी नहीं है। वह कर्तव्य भाव से सेवा के लिए है। शिवशंकर और गायत्री में उद्वाह का भी संबंध नहीं है, वह मात्र आत्मीयता का संबंध है।

इन दोनों ही उपन्यासों में समाजविमुखता को तनिक भी स्पृहणीय नहीं माना गया है। शिवशंकर को स्वामी जी ने कहा है कि 'सेवा, प्रार्थना और कर्तव्य' ही जीवन का मूल मंत्र है। रैक्व की गुरु माता कहती हैं, "एकान्त का तप बड़ा तप नहीं है। देखो, संसार में कितना कष्ट है, रोग है, शोक है, दरिद्रता है, कुसंस्कार है। लोग दुख से व्याकुल हैं, उनमें जाना चाहिए। उनके दुख का भागी बनकर, उनका कष्ट दूर करने का प्रयत्न करो।" वे यह भी कहती हैं कि, 'तपस्या की कसौटी समाज है।' तथा 'गाड़ी के नीचे बैठना तप नहीं है।, गाड़ी खींचकर लोगों को कुछ खाद्य पहुँचाना, ठीक तपस्या है।" उत्तरकथा में स्वामी जी ने शिवशंकर से कहा, "तुम सेवा के लिए हीं आए हो। दीन हीन संत्रस्त प्राणियों के प्रति किए गए कर्म से बड़ी न प्रार्थना है और न कोई पूजा।" अमृतलाल नागर के उपन्यास 'मानस का हंस' का नायक तुलसी भी वैरागी है। पत्नी से विलग है। काम और कामिनी को अंगीकार नहीं करता, किंतु उसकी तपस्या का रूप भी वही है।

१. "दीन-दुर्बल और रोगी की सेवा करना मैं रामजी की सेवा करना मानता हूँ। "२. "तुलसी राम का खास गुलाम, अथक भाव से रामजनों की सेवा करता रहा।" ३. "नहीं बेनी माधव! मालिक के काम की अवहेलना करने का साहस, यह गुलाम नहीं कर सकता।"

इस प्रकार ये तीनों ही उपन्यास आध्यात्मिक परिवेश के होते हुए भी परिवार और समाज से निरपेक्ष नहीं हैं। अंतर दृष्टिकोण का है। यह जीवन भोग के लिए नहीं कर्तव्य के लिए है।

प्रकृति के पश्चात् मानवीय पात्रों की दृष्टि से उपन्यास की नायिका दुर्गा है। दुर्गा, पंडित शिवशंकर की बहन है, इसलिए उसमें भी कुछ गुण अपने भाई के होने चाहिए। लेखक ने इस ओर संकेत करते हुए कहा,—दुर्गा ने अपने विवाह के अवसर पर जो हाहाकार, मानवीय जीवन की व्यर्थता, व्यक्ति की विवशता तथा संसार की असारता देखी, उसके बाद उसमें आसक्ति तो नाम मात्र की भी नहीं रह गईं।" लेखक के अनुसार उसमें आसक्ति नाम मात्र की भी नहीं थी।, शायद इसीलिए वह गोविंद को अपने सगे भाई और गौरा को अपने पुत्रों तथा पुत्रवधुओं से भी प्रिय भाभी के रूप में ही अंगीकार कर सकी। मुझे इसमें भी लेखक का यह संकेत दिखाई देता है कि परिवार देह संबंध से ही नहीं होता। वसुधा को यदि कुटुंब बनना है तो उसे अपने रक्त संबंधों का मोह छोड़ कर सात्विकता को ही महत्त्व देना होगा। फिर भी दुर्गा पंडित शिवशंकर आचार्य नहीं बन पाई। न वह अपना विवाह रोक पाई, न सत्य का साक्षात्कार करने और इस शरीर को गलाने के लिए हिमालय का अंग बन पाई। उसका विवाह हुआ और घर संसार का विस्तार हुआ। क्रमशः उस विभीषिका का प्रभाव क्षीण होता गया। जीवन का रस उसे अपनी ओर आकृष्ट करता गया। वह पूर्णतः अनासक्त तो नहीं ही लगती है। उसमें सांसारिक मोह उस सीमा

तक दिखाई नहीं देता, जिस सीमा तक सामान्य संसारी में होता है। वह अपने विरोधियों को भी अपना स्नेह और सम्मान दे पाई। परायों को भी आत्मीयता की सुगंध दे पाई। विशू जैसे नरपशु, जिसने उसका जीवन नष्ट भ्रष्ट करने में कोई कोर कसर उठा नहीं रखी थी, को भी क्षमा कर पाई। किंतु उत्तरकथा में या कथा के उत्तरकाल में जब वह उपन्यास की वास्तविक नायिका प्रकृति के आमने सामने पड़ती है, तो यही सोचती है कि "क्या कुल कुटुंब, घर परिवार का यह पसारा इसी सब फजीहत के लिए होता है। क्या इसे ही सांसारिक सुख कहा जाता है? क्या इसी के लिए देह और मन से बारम्बार कीचड़ से सनना होता है?...नहीं! बड़दा ठीक कहा करते थे कि दलदल सर्वत्र ही दलदल होता है। या तो इससे दूर रहो, जो मुश्किल है, या फिर.....जैसे ही पैर धरा नहीं, दलदल से कोई नहीं बच सकता। उत्तरोत्तर डूबते जाने को घुटते हुए अनुभव करना होता है।"

इस उपन्यास में प्रधानता चाहे आध्यात्मिक संकेतों की हो, किंतु इहलौकिक अथवा सांसारिक चित्रण भी कम नहीं है। वह आवश्यक भी था। आखिर तो यह संसार उस प्रकृति नटी की ही लीला है। प्रकृति के तीन गुणों का पसारा है। तो फिर सत्व गुण के साथ रजोगुण और तमोगुण को भी उपस्थित रहना ही था। उज्जैन का ब्राह्मण समाज उपन्यास के केन्द्र में है। यह समाज ब्राह्मणों का तो है, किंतु सात्विक तपस्वियों या विप्रों का न होकर सांसारिकता में आकंठ डूबे पंडों का है। वे धर्म के व्यवसायी हैं। उनमें से अधिकांश में धार्मिक कर्मकांड तो मिल जाता है किंतु अध्यात्म, तपस्या और त्याग नाम मात्र को भी नहीं है। यही कारण है कि उन लोगों का ध्यान ईश्वर की ओर न होकर ऐश्वर्य, सत्ता, सांसारिक प्रतिष्ठा तथा आडंबर की ओर है। अहंकार का विगलन नहीं हुआ है, वह उनके सिर पर चढ़ कर बोल रहा है। इसीलिए पंडित त्र्यंबक शुक्ल के पहले ससुराल वाले पीतल के गहनों पर सोने का पानी चढ़ाकर शुक्ल परिवार को ठग सके। प्रतिशोध में पागल त्र्यंबक की माँ कृष्णा देवी शुक्ल अपनी बहू को मुँह अंधेरे अपने हाथों से कुएँ में धकेल कर उसकी हत्या कर सकी। वह तो दुर्गा का भाग्य ही था कि वह बच गई, अन्यथा कृष्णा देवी शुक्ल का व्यवहार उसके साथ भी लगभग वैसा ही था। वह ज्वरग्रस्त दुर्गा को लातें मार कर घायल कर सकती है। उसके लिए किसी भी प्रकार के उपचार का निषेध कर सकती है। अपने भतीजे को धन देकर अपनी ही बहू के साथ बलात्कार करने के लिए भेज सकती है, ताकि बहू अपमानित होकर आत्महत्या कर ले और उसकी हत्या करने की आवश्यकता न रहे।

कृष्णा देवी शुक्ल की भाभी गंगा देवी व्यास का चरित्र और भी अधिक मोहग्रस्त है, और प्रकृति का नियम है कि मोह का आधिक्य प्राय: मस्तिष्क विकार के रूप में प्रकट होता है। गंगा को अपने पुत्र के खान-पान, आचार व्यवहार में कहीं कोई आपत्तिजनक तत्व तो दिखता ही नहीं, पैसे लेकर दुर्गा के साथ बलात्कार के प्रयत्न के लिए भी वह

अपने पुत्र को दोषी नहीं मानती। इसका चरमोत्कर्ष महादेव शुक्ल के हत्यारे अपने पुत्र को निर्दोष मानने, और उसके विरोधियों को यत्र-तत्र के माध्यम से यमलोक पहुँचाने के प्रयत्न में होता है जो विक्षिप्तता की पहली अवस्था है और उसकी परिणति आत्महत्या कर अपने पति को पीड़ित करने में होती है।

इस उपन्यास में त्र्यंबक की पीढ़ी तक प्राय: समाज ही समाज है, उसमें राजनीति नहीं है। नागेश्वर उपाध्याय के खादी व्यवसाय के माध्यम से भविष्य की राजनीति का संकेत मात्र है। राजनीति का प्रवेश इस समाज में तब होता है, जब उसमें से देशप्रेम प्राय: समाप्त हो चुका है और सत्ता की राजनीति आरंभ हो चुकी है। यही कारण है कि गोविंद और गोविंद जैसे सेवापरायण लोग उससे निष्कासित हो रहे हैं और धूर्जटी जैसे स्वार्थी और धूर्त लोग प्रतिष्ठा पा रहे हैं। यह राजनीतिक प्रक्रिया नगरों और मुहल्लों से लेकर पूरे देश में घटित हो रही थी। इस प्रक्रिया का विश्लेषण ही स्पष्ट करता है कि गांधी से उनके सारे अधिकार, मोतीलाल नेहरू जैसी विदेशी मानसिकता के उत्तराधिकारी जवाहरलाल नेहरू ने कैसे ले लिए। शिवशंकर आचार्य अनासक्त रहे। न त्रिगुणात्मक प्रकृति में धंसे, न उसको चुनौती दी; किंतु जिन्होंने समाज में व्यवहार कर उसे स्वच्छ करना चाहा, उन्हें अग्नि परीक्षा देनी पड़ी। और जीवन को फिर से सामान्य बनाने के लिए प्रकृति नटी ने उन्हें अपने ही समाज और साथियों में अप्रासंगिक घोषित कर दिया ''प्रत्येक ऐसी परिणति अग्नि के दहकते अंगारों से चलकर ही प्राप्त होती है। परिणति चाहे घर परिवार वाली दुर्गा की हो, त्र्यंबक की हो, या मानव समाज व्यापी आंधी की हो। ————गांधी ने जब इतिहास, समय, समाज और राष्ट्र की भी सीमा लांघी तो नोआखाली के अंगारों पर चल कर अपने व्यक्ति, स्वार्थ सब को होम कर देना पड़ा। और अंत में पूरी मानवता के प्रतीक—पुरुष के रूप में गोलियों से ढह जाना पड़ा। राजनीति से जब भी प्रार्थना पुरुष सहन नहीं होते, तब यही प्रक्रिया संपन्न होती है। ''यहाँ हम भूल नहीं सकते कि यादव जब कष्ट में थे, वे अधर्मी जरासंध और कंस के चरणों तले दले जा रहे थे, तब उन्हें धर्म की आवश्यकता थी। अपने तारणहार कृष्ण की प्रतीक्षा थी, उससे प्रेम था, वह उनका नेता और बिना सिंहासन पर बैठे भी उनका राजा था। किंतु संकट टल गए, वे सुरक्षित, शक्तिशाली और समृद्ध हो गए। तब न उन्हें धर्म की आवश्यकता थी, न कृष्ण की। महाभारत के धर्मयुद्ध में न कृष्ण के भाई उनके साथ थे, न उनके अपने पुत्र। कृष्ण उन सबके लिए अप्रासंगिक हो चुके थे। गांधी भी उसी प्राकृतिक और ऐतिहासिक परंपरा की एक कड़ी है। नरेश मेहता के शब्दों में''...अकेला गांधी मूल्यों, संस्कृति, दर्शन और विचार के परिवृत्त में फेंक दिया गया था। कर्मवीर गांधी से महात्मा गाँधी तक की यात्रा करने वाले ऐतिहासिक व्यक्ति की आवश्यकता, अब न उसके द्वारा घोषित उत्तराधिकारी को ही रह गई थी और न उसके द्वारा कांग्रेस को समाप्त कर देने वाले परामर्श वाली

कांग्रेस को ही। क्योंकि राष्ट्र की समाप्ति होने पर ही राज्य जन्मा था, इसलिए गांधी की परिसमाप्ति पर ही शेष को अभिषिक्त होना था—और हुआ भी वही।''

यह महाकाव्यात्मक उपन्यास, जो अपनी कथा सामग्री, भूगोल, चरित्रों, समाज की जीवन पद्धति, राजनीति तथा अनेक भाषागत प्रयोगों से मालवा का ही नहीं, उज्जैन क्षेत्र का एक आंचलिक उपन्यास दिखाई पड़ता है, वस्तुतः प्रकृति को नायिका मान कर उसकी लीला की कथा कहता है। इसलिए उसमें विराटता, प्रसार, जटिलता और गांभीर्य भी है, अध्यात्म और काव्यात्मक सौन्दर्य भी है। किंतु सबसे प्रभावकारी उसका संदेश है। लेखक ने स्वयं ही इस सारी प्रक्रिया का समाहार इन शब्दों में किया है : ''अनस्खलित स्खलित होता है और नदी का जन्म होता है। यह संसार, समाज, इसी नदी का ही नाम है। नदी का तात्पर्य ही है, तत्व भाव का धूल धूसरित होना, कीच कादों में सनना, वन कांतारों का संकट मोल लेना, संग्रह त्याग करते हुए, गम्य अगम्य यात्राएं करना और इस गुणात्मक परिवर्तित स्वरूप को तब जाकर समुद्र की अथाहता, अगम्यता, अपरिमेयता प्राप्त होती है, परंतु पुनः अपनी प्रकृति, यात्रा, स्वत्व का स्वाद तक सौंप देना पड़ता है। इस संसार की प्रिय-अप्रियता से गुजर कर ही, एक अनेक बनता है, व्यष्टि समष्टि बनाता है, समय काल बनता है।''

१७५, वैशाली पीतमपुरा
दिल्ली-११००८८



असफल सिद्धार्थ का सहज –पथ

• प्रेम जनमेजय

आज से लगभग बत्तीस वर्ष पूर्व एम०ए० के विद्यार्थी के रूप में, जब खोज— खोज कर उपन्यास पढ़ने की 'गंदी' आदत थी।(गंदी आदत माता– पिता दृष्टि में, जिन्हें लगता था कि रात– दिन बच्चा नॉवलों से चिपका रहता है, बाहर खेलता– कूदता नहीं है और अपनी आँखें खराब करेगा।) और इसी गंदी आदत ने मुझे नरेश मेहता का 'यह पथ बंधु था', भी पढ़वाया। वह दौर साठोतरी कविता, नयी कविता, नयी कहानी, समान्तर कहानी, प्रगतिशील कहानी, जनवादी कहानी आदि आदि का आंदोलनकारी समय था। इन साहित्यिक आंदोलनों की भीड़ में पले–बसे कच्ची मिट्टी के साहित्यिक मन पर यथार्थवाद, अतियथार्थवाद और नग्नयथार्थवाद जैसे विचार भी अपने निशान अंकित कर रहे थे। ऐसे में आदर्शवादी मूल्यों को लेकर जीवन भर उनकी स्थापना के लिए इधर से उधर डोलते श्रीधर से अधिक आत्मसात नहीं हो पाया था, हां अंत में उसी पराजय और हताशा को देखकर कच्ची मिट्टी के मन को उपन्यास कुछ यथार्थवादी अवश्यक लगा था।

सन् १९८० में भीष्म साहनी, रामजी, मिश्र और भगवती प्रसाद निदारिया द्वारा सम्पादित 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास' में गिरिराज किशोर की समीक्षा 'यह पथ बंधु था'। पढ़ी तथा नरेश मेहता का वक्तव्य एक रचना की प्रतिरचना : 'यह पथ बंधु था' भी पढ़ी। गिरिराज किशोर ने अपने आलेख के आरम्भ में ही लिखा, ''श्री नरेश मेहता का उपन्यास' यह पथ बन्धु था' सन् १९६२ में प्रकाशित हुआ था। इतना समय रचना की प्रतीति के लिए काफी नहीं होता, जान– पहचान के लिए चाहे काफी हो। रचना का व्यक्तित्व समय के साथ-साथ विकसित होता है। हर पात्र और चरित्र को जीवाणु से व्यक्ति बनना होता है।........ सही लिखा गिरिराज किशोर ने। आज जब मैंने उपन्यास को पुनः पढ़ा तो मेरे उस साहित्यिक मन को जो वर्षो के अनुभव से बहुत कुछ जान चुका है, परिपक्व हो चुका है, लगा कि उपन्यास अपने आदर्शवादी मूल्यों के कारण आज अधिक सामायिक है। गिरिराज किशोर ने शीर्षक में था के स्थान पर है का अत्यन्त ही सार्थक प्रयोग किया।

यह उपन्यास आज भी उतना ही प्रसांगिक है जितना आज से चालीस वर्ष पूर्व था और यदि कहूं कि आज अधिक प्रासंगिक है तो अत्युक्ति न होगी। आज जिस प्रकार से बाजारवाद तथा पनपती अपसंकृति के कारण हमारे सांस्कृतिक, सामाजिक, पारिवारिक एवं मानवीय मूल्यों का क्षरण हो राह है, ऐसे में 'यह पथ बंधु था' जैसे उपन्यासों की अधिक आवश्यकता है। यही कारण है कि जब नरेन्द्र कोहली राम- कथा और महाभारत पर आधारित उपन्यासों को शृंखलाबद्ध करते हैं तो लेखक के प्रति साम्प्रदायिक और संकीर्ण सोच रखने वाले तथाकथित आलोचक कितना उपेक्षापूर्ण रवैया अपना लें, नरेन्द्र कोहली को साधारण पाठक का स्नेह मिलता ही है।

श्रीधर के पिता कीर्तनिया हैं, भागवत बांचते हैं और संयमी तथा आचारणवान प्राणी हैं कि आदर्शवादी मूल्यों में आस्था रखने वाले उसके धार्मिक पिता और वह भौतिक दृष्टि से विपन्न होते जाते हैं। पिता इसे हरि इच्छा मानकर स्वीकार करते हैं परन्तु श्रीधर परिवार को उसके हाल पर छोड़ इधर उधर जैसे किसी सत्य की खोज में भटकता है। श्रीधर के दोनों भाई और भाभियां अत्यंत स्वार्थी आत्मकेन्द्रीत, परपीड़ा में सुखी होने वाले एवं व्यावहरिक हैं सात वर्ष की कच्ची आयु में श्रीधर अपने से दस वर्ष बड़ी, स्थानीय मराठा सरदार बाला साहब की पुत्री इन्दु के प्रभाव में आते हैं। कच्ची आयु के श्रीधर और युवा होती इन्दु के संवादों को लेखक ने अत्यधिक सहज स्वभाविक तथा रोचक रूप में प्रस्तुत किया है। श्रीधर के व्यक्तित्व निर्माण में माता-पिता के संस्कारों के अतिरिक्त, इन्दु के साथ व्यतीत किए तीन वर्षो का भी योगदान है। इन्दु का व्यक्तित्व सामंती अभिजात्य, सरलता, स्वतंत्र सोच आदि से निर्मित हुआ है जबकि श्रीधर का वैचारिक धरातल अभी आंखे ही खोल रहा है। अनेक बार लगता है जसे इन्दु श्रीधर के मासूम उत्तरों से अपना मनोरंजन कर रही है। इंदु दीदी का सम्पर्क श्रीधर की शैशव सोच में कुछ स्वप्न तो भर देता है पर उन स्वप्नों को सही कर पाने का सुदृढ़ आत्मविश्वास नहीं दे पाता है।

श्रीधर अपने स्वप्नों को सही करने के लिए सत्य की खोज में घर छोड़ देता है तथा एक और यशोधरा, श्रीधर की पत्नी सरो यानि सरस्वती धर्म, कर्तव्य और आदर्शो में बंधी अकेलेपन को भोगने को अभिशप्त हो जाती है। सरो अपने पति की तरह ही समर्पित तथा शालीन चरित्र में गुंथी मूक अपने कर्तव्य का पालन करने में विश्वास करती है। इसकी बेटी गुनी ने भी यही संस्कार ग्रहण किए हैं और यही कारण है कि उसे अपने ससुराल में अपनी माँ से अधिक दुख मिलता है। मैंने जब- जब सरस्वती, उसकी सास और उसकी बेटी के प्रसंग पढ़े तो मैथिलीशरण गुप्त की उपेक्षित उर्मिला और यशोधरा की पीड़ा याद आ गई। मुझे यह कथा श्रीधर की कथा की तुलना में सरस्वती और गुनी जैसी सन्नारियों की अधिक लगी। चरित्र में यदि मूल्यों के बचाव के लिए संघर्ष है, उसके लिए अपना जीवन न्यौछावर करने का भाव है तो वह चपचाप व्यवस्था के विरुद्ध संघर्षरत इन नारियों में है। श्रीधर

तो अपने बचाव के लिए पलायन का मार्ग खोज लेते हैं इसलिए ही हारते हैं और उन्हें इस हारने का मलाल नहीं है। परन्तु सरो अंत तक नहीं हारती है और जब इस संसार से विदा भी होती है तो उसे चेहरे पर कोई हताशा नहीं है। "रोग से अनवरत लड़ते लड़ते वह खोखली हो गई थी। रंग सफेद हो गया था। फिर भी अर्थी पर लेटी कैसी निश्चित, सुखी, सन्तुष्ट लग रही थी। कोई परिताप नहीं था मुख पर। कोई कामना शेष नहीं लग रही थी। जैसे वह विराट समापन हो। पूरा आकाश घेर लिया हो। न ऊपर, न नीचे, कोई भी इस सन्ध्यावतन से वंचित न रहा हो । सम्पूर्ण आलाप, विस्तार तान के साथ राग का विलयन हुआ हो। वह निष्णाात इतिश्री थीं।"

सरस्वती की तुलना में उसके पति श्रीधर एक अपराध भावना से निरंतर ग्रस्त हैं। जब वो चिंतन करते हैं कि इस सारे भटकाव में उन्होंने क्या पाया तो .... 'उसे लगता है कि उसका पुरुषार्थ नपुंसक पुरुषार्थ था। वह जिन आदर्शों को पुस्तकों में पढ़कर बाहर लोगों के बीच गया था, वे सड़े हुए थे। किसी को पुस्तकों के आदर्श की कोई आवश्यकता नही होती । जीवन पढ़ने वाला वह मारवाड़ी हैं, जिसने तुम्हारे बगल में कोठी बनवायी है। तुम्हारे जेठ ने कोई किताब नहीं पढ़ी इसलिए सफल हैं सुखी है। चीजे उन्हें घेरे हुए चमक रही हैं। हमने-तुमने पुस्तकें पढ़कर अपनी टपकती छतों को चूने से कैसे रोका जाए, यह तक नही सीखा।

सव व्यर्थ गया श्रीधर! सब व्यर्थ गया।"

सरों किसी की अपरधी नही थी परन्तु उसके अनेक अपराधी थे।

मुझे तो श्रीधर एक ऐसे गौतम लगे जो गौतम की तरह सिद्धार्थ बन सब कुछ त्यागकर चले गए पर बुद्ध नही बन पाए अंत में जिन्हें बस निराशा ही हाथ लगी।

यह उपन्यास मेरे मन में उठे एक और प्रश्न का जैसे सहज ही उत्तर दे देता है। नारी क्या केवल नारी होने से प्रताड़ित है और पुरुष, पुरुष होने से ही क्या प्रताड़ित करने का अधिकार पा लेता है और स्वयं कभी प्रताड़ित नहीं होता? क्या नारी प्रताड़िनी नहीं होती ? ऐसा नहीं हैं। यह हमारी सामाजिक व्यवस्था की विसंगतियां है जिसमे ईमानदार, परोपकारी तथा नैतिकतावादी व्यक्ति प्रताड़ित होने को बाधित है। एक ही परिवार है जिसमें श्रीधर और उसके पिता जैसे पुरुष मात्र हैं जो जीवन भर परिस्थितियों से विवश प्रताड़ित होते रहे तथा दूसरी ओर सावित्री गुनी की सास आदि नारी पात्र हैं जिन्हें दूसरों को प्रताड़ित करने में ही अपार सुख मिलता हैं। जिन्हें अपने स्वार्थ के लिए हर तरह का अत्याचार करने में दुष्ट सुख प्राप्त होता है। हां अनेक बार व्यवस्था आपको अवश्य कई बार प्रताड़ित करने का अधिकार दे देती है या फिर प्रताड़ित होने की विवशता बांध देती है।

मुझे यह भी लगता है कि सरो और श्रीधर जैसे पात्र प्रतीक हैं हमारे समाज में उन ईमानदार, नैतिकतावादी मानवीय मूल्यों के संवाहक चरित्रों को जो दूसरों के बारे में परोपकारी दृष्टि के साथ अधिक सोचते हैं और स्वयं सदा दुखी ही रहते हैं। राजनैतिक भ्रष्टाचार, अमानवीय पुलिस– व्यवस्था तथा क्रय – विक्रय पूर्ण न्याय व्यवस्था तथा स्वार्थी समाज से घिरा मानवीय मन जब अपने बच्चे को नैतिकता, मानवीय मूल्यों, ईमानदारी आदि का पाठ पढ़ाता हैं तो एक प्रश्नचिह्न उसे घेर लेता है— कहीं वह अपनी संतान को अव्यवहारिक शिक्षा तो नहीं दे रहा? कहीं वह उसे भविष्य को संकटों और अंतहीन संघर्ष के कांटों से तो नही भर रहा? जिस व्यवस्था में हम जी रहे हें उसमें नैतिक मूल्यों का कोई अर्थ है क्या? अंत में हमें भी श्रीधर की तरह निराशा ही तो हाथ नही लगने वाली है? इन्हीं सारे प्रश्नों को जन्म देने और उनपर सोचने को बाध्य करने के कारण मुझे लगता है कि यह उपन्यास आज अधिक प्रासंगिक है। नरेश मेहता ने ऐसी सामाजिकं अव्यवस्थित व्यवस्था की कल्पना शायद ही की होगी।

उपन्यास की रचना प्रक्रिया पर लिखते हुए नरेश मेहता ने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही है, "मैंने प्राय: कहा है कि क्रांतिकारी और क्रान्तिदर्शी में गुणात्मक अन्तर होता है। क्रांतिकारी की भाषा , नारों की फतवों की होती है जबकि क्रांतिदर्शी की भाषा मौन या ठण्डी भाषा हुआ करती है। क्रांतिकारी समाज की परिधि से चलकर सत्ता के केंद्र तक पहुंचता है और सत्ता पर अधिकार करता है जबकि इसके विपरीत क्रांतिदर्शा सत्ता के केंद्र से आरम्भ कर समाज की परिधि की ओर बढ़ता है।"

आप जरा अपने चारों ओर दृष्टि दौड़ाएं तो आपको ऐसे क्रांतिकारियों की कमी नहीं मिलेगी जो राजनैतिक सत्ता हो या साहित्यिक सत्ता, उस पर अधिकार पाने के लिए ही क्रांतिकारी का मुखौटा ओढ़े हुए हैं वरना अपने सुकर्म में वह कितने स्वार्थी, संकीर्ण और सम्प्रदायवादी हैं, यह सभी जानते हैं। ऐसे छदम क्रांतिकारियों के प्रति भी यह उपन्यास सावधान करता है। श्रीधर एक ऐसा ही पात्र है जो अपने आदर्शों के कारण पराजित होता है, अपनी पराजय भी स्वीकार करता है, परन्तु किसी अतिवादी विचार से समझौता नही करता तथा मनुष्य का इतिहास लिखने को तैयार हो जाता है। क्रांतिदर्शी को किसी दल की बैसाखियों की आवश्यकता नहीं होती है।

अपने वक्तव्य में माननीय श्रीमती महिमा मेहता ने नरेश मेहता की रचना प्रक्रिया पर अपना सहज स्वाभाविक संस्मरणात्मक वक्तव्य देते हुए चर्चा की थी कि कैसे नरेश मेहता भाषा के प्रति सजग रहते थे। एक पृष्ठ में यदि एक भी त्रुटि है तो न संपूर्ण बदलाव में विश्वास रखते थे। यही कारण है कि उनकी भाषा में एक असीम ताकत दिखाई देती है। नेरश मेहता न केवल भाषा को सजा संवार कर प्रस्तुत करते हैं। अपितु उसकी संप्रेषणीय शक्ति को विस्तृत बना देते है। उनका कवि मन गद्य गीत की सी अभिव्यक्ति

प्रस्तुत करता है—सब परिचित था, केवल दीवारे यहाँ रहने वाले की तरह झुकी हुई थी जैसे वाक्य ससुराल में प्रताड़ित गुनी के लिए लिखा गया यह वाक्य-वह स्वीकृत ही कब हुई थी, जो आज परित्यक्ता हो गयी? वह तो दूध का एक थन थी, जो दूध आने की संभावना में चिंचोड़ी गयी थी बस भाषा की उस ताकत को हमारे सामने लाना है जिसे एक कवि मन ही प्रस्तुत कर सकता है।

कुल मिलाकर असफल सिद्धार्थ की यह कथा चाहे मध्यवर्गीय युधिष्ठिर की हो जिसके भाग्य के मानवीय दुख की असमाप्त विरासत ही शेष है और जो अपने आदर्शो से महाभारत नही जीत पाएं क्योंकि महाभारत तो कृष्ण और अर्जुन के किसी भी नीति को पालन करने वाली नीति को अपनाकर जीता था परन्तु ऐसे पात्र हमारी संवेदना और सहभूमि के अधिकारी अवश्य हैं।



नरेश मेहता : कथा साहित्य

● डॉ0 सीतेश आलोक

नरेश मेहता के कथा साहित्य पर बोलने से पहले मुझे स्मरण हो रहा है उनकी पंक्तियों का कि

हमारे तुम्हारे बीच
मेरी कविता के अतिरिक्त
कोई तीसरा उपस्थित नहीं है

उनका कथा साहित्य पढ़ने के बाद यदि नरेश जी से मेरा साक्षात्कार हुआ होता तो मैं उनसे विनम्रतापूर्वक अवश्य कहता—मान्यवर! हमारे और आपके बीच आपका सशक्त गद्य भी है। किन्तु कभी-कभी स्वयं ही यह तर्क भी उठता है उनका वह सारा गद्य क्या कविता नहीं है? भला उनके गद्य का कौन पक्षधर होगा जो यह नहीं मानेगा कि उनके सम्पूर्ण कथा साहित्य में कविता ही है जो उनके वर्णन को गति देती है, उनके चरित्रों को जीवन्त बनाती है और उनकी शैली को विशिष्टता प्रदान करती है।

यह बात गौण है कि नरेश मेहता को साहित्य में सम्मान और स्थान दिया मूलरूप से उनके उपन्यासों ने विशेषकर **यह पथ बंधु था** ने, परन्तु फिर भी वे मूलरूप से कवि ही थे। कथा साहित्य में साधिकार योगदान देते रहते हुए भी वे अपनी वास्तविक प्रकृति से परिचित थे। जब उन्होंने **पिछले दिनों नंगे पैरो** में संग्रहीत एक कविता में कहा था कि

सृष्टि मात्र को
मनुष्य मात्र को
इतिहास और राजनीति नहीं
एक कविता चाहिए।

जब वे कोई अतिशयोक्ति नहीं कर रहे थे, मात्र कविता के प्रति अपनी आस्था का उल्लेख ही कर रहे थे।

उनका कथा साहित्य पढ़कर यह स्पष्ट लगता है कि प्रमुख रूप से असामान्य स्थितियाँ अथवा असामान्य चरित्र उन्हें कहानी का सूत्र प्रदान करते थे। और जैसा कि उन्होंने स्वयं ही अपने एक साक्षात्कार में स्वीकारा था कि 'मेरे लिए कहानी वह है जो उपन्यास नहीं बन पाई।' अब इस प्रश्न का उत्तर तो स्वयं लेखक भी नहीं दे सकता कि उदार 'समय देवता' ने उसे किस कार्य के लिए अन्ततः कितना समय प्रदान किया, क्योंकि लेखक पर प्रतिदिन ही नहीं प्रतिक्षण भी न जाने कितने दबाव होते

हैं— विशेषकर नरेश मेहता जैसे लेखक पर, जिन्होंने असामान्य रूप से विषम परिस्थितियों में अपने लेखन को जीवित रखा। मेरा तात्पर्य यहाँ मात्र आर्थिक दबावों से ही नही, उन मनोवैज्ञानिक दबावों से भी है जिनसे प्रत्येक लेखक को निरन्तर जूझना पड़ता है।

जैसा कि मैंने पहले कहा, नरेश जी को असामान्य स्थितियाँ विशेषरूप से आंदोलित करती थीं, असामान्य चरित्र कुछ लिख डालने की प्रेरणा देते रहते थे। ऐसी स्थिति में उन जैसा सम्वेदनशील कवि बचता भी तो कैसे! क्योंकि असामान्य स्थितियाँ तो यदाकदा उत्पन्न होती ही रहती हैं, असामान्य चरित्र भी लेखक का ध्यान आकर्षित करने के लिए, जैसे उसे ढूँढ़ते हुए ही, स्वयं उसके आस-पास आकर मँडराने लगते है। ऐसे में अधिकांश महागाथाकार, तपस्या के धनी, हठयोगी साहित्यकार ही, वचनबद्धता का निर्वाह करते हुए, अपनी पहले से उठाई हुई कथा के अंगो-उपांगों के साथ यथा सम्भव न्याय करते हुए उसे उपन्यास का रूप प्रदान कर पाते हैं। वे सभी नए चरित्रों एवं नई घटनाओं को पूर्व-निर्धारित तपस्या में विध्न मानकर नकारने को विवश हो जाते हैं। कुछ लेखक तो उन्हें पूर्ण-रूप से अनदेखा करते रहते है और कुछ उन्हें अपने उपन्यास की बाँहें पसार कर उसी कथानाक में समेटते चलते हैं । ये दोनों ही समझौते लेखक के लिए सरल नहीं होते।

एक प्रकार से देखा जाए तो सम्भवतः उपन्यासकार और कहानीकार की मानसिकता में एक मूलभूत अन्तर होता है। लगभग वही जो विस्तार और गहराई में होता है, या कहें जो विस्तृत अध्ययन और गहन अध्ययन में होता है। उपन्यासकार को किसी हठयोगी की भाँति तपस्यारत होकर अपने सोच को पूर्व निर्धारित कथानक से तब तक बाँधे रखना होता है, जब तक कि वह अपने सभी पात्रों को उनकी चरित्रिक गति के अनुरूप तर्क-संगत लक्ष्य तक न पहुँचा दे। उपन्यास लिखते समय, चिन्तन अथवा अल्प विश्राम के बीच कोई काव्य रचना किसी छोटे सी बच्ची की भाँति सारी वर्जनाओं को लाँघते हुए भले ही दौड़ी चली आए और क्षणिक व्यवधान डाल, ले, वयस्क कहानी नहीं आ सकती। हठयोगी उपन्यासकार नितान्त रूखेपन से बरजते हुए उसे दुत्कार भी सकता है अथवा हाथ हिलाकर फिर कभी आने का संकेत भी दे सकता है। फिर यह कहानी का भाग्य बचता है कि बाद में फिर कभी उपयुक्त समय पर वह आ भी पाए, अथवा नहीं।

इस व्याख्या के अनुरूप श्री नरेश मेहता एक वैष्णव हठयोगी थे, एक कठोर तपस्वी, जो अकल्पनीय विषम परिस्थितियों के चलते भी अपनी साधना में विध्नों से विचलित हुए बिना, लगे रह सकते थे— और उनका बृहत् उपन्यास **यह पथ बंधु था** इसका ज्वलंत प्रमाण है, जो उन्होंने मात्र छः महा में पूरा किया।

सम्भवतः यही कारण है कि समर्थ एवं सम्मानित उपन्यासकार नरेश मेहता ने कहानियाँ बहुत कम लिखी। उनके तीन कहानी संग्रहों— **तथापि, एक समर्पित महिला और जलसाघर,** में कुल २५ कहानियाँ हैं, जिनमें कही पुनरावृति भी है।

नरेश मेहता के पास लेखन के लिए एक ऐसी अप्रतिम ऊर्जा थी जो उन्हें विराम नहीं देती थी। जो देखा, जो घटना आसपास घटी, यदि उसमें कुछ भी असामान्य है, कुछ भी मन को छूता है, कुछ

भी हृदय तंत्री को आंदोलित करता है तो सम्भवतः लेखनी स्वतः ही उनके हाथों में आ जाती थी और अन्तर्मन उस घटना से सम्बन्धित ताने-बाने बुनता हुआ तत्सम्बन्धी पात्रों को जन्म देते हुए, सामाजिक-राजनैतिक समस्याओं एवं प्रश्नों को उनकी सम्पूर्ण गहराई तक जाकर विश्लेषित करते हुए, वर्णन करता चला जाता था। उनके पास एक सम्वेदनशील कवि का हृदय भी था जो घटनाओं की व्याख्या की ही नहीं चरित्रों की पीड़ा की अनुगूंज द्वारा अनेकानेक स्थितियों एवं नए चरित्रों को जन्म देकर उनकी व्याख्या में संलग्न हो जाता था।

उनका एक उद्धरण स्मरणीय है:

जब मैं किसी रचना के लिए अपने मनोलोक पर दस्तक देता हूँ और उस तिलिस्म का भारी भरकम दरवाजा प्राचीनता की आवाज करता हुआ खुलता है तो उसके भीतर न जाने कितने वैदिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, मध्यकालीन, काल्पनिक, वैयक्तिक, अजीबोगरीब विभिन्न अनुभवों, रागात्मिकाओं के अमूल्य रत्नदीप, रंगारंग कालीन, जड़ाऊ अलंकार, रजत सिक्कों के ढेर, भारी कवच, शिरस्त्राण, रत्न-जटिल तलवारें, खंडित मूर्तियाँ , किसी झील के किनारे बिताई गई एक अधूरी शाम, फीके पड़ गए अक्षरों वाले असफल प्रेम-पत्र तथा दुनिया-जहान का वस्तुगत, घटनागत तथा सम्वेदनात्मक ऐश्वर्य मेरे चारो ओर बिखर उठते है।

ऐसे में छोटी-छोटी कहानी के लिए उनके पास समय बचता भी तो कैसे! उन्होंने कहीं स्वयं ही कहा था कि मेरे लिए कहानी वह है, जो उपन्यास नहीं बन सकी। उन्होंने यहीं प्रयाग में ही, अमर गोस्वामी को दिए एक साक्षात्कार में कहा भी था कि मेरी आन्तरिक एवं वाह्य सारी तैयारी एक कवि की ही रही है। मैं अपने को ऐसा कहानीकार नहीं मानता कि लोग मुझे भी एक कहानीकार के रूप में मान्यता दें, कारण बस यह कि मुझसे कहानियाँ बनती नहीं हैं सच तो यह है कि छोटा कैनवास मुझे रास नहीं आता।

उनकी ये सभी सीमाएं अब सर्वविदित हैं, तथापि नरेश मेहता ने अपनी विशिष्ट शैली में लगभग चौबीस कहानियाँ लिखीं और समकालीन धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, फणीश्वरनाथ रेणु, अमरकान्त, मार्कण्डेय, रामकुमार, शैलेश मटियानी, कमलेश्वर, रघुवीर सहाय आदि के बीच अपना स्थान भी बनाया। उनकी कहानियाँ सोदेश्य कहानी-परम्परा को नकारते हुए सामाजिक संदर्भो एवं समकालीन यथार्थ को अपना विषय बनाती दिखाई देती हैं, यद्यपि काव्यात्मक भाषा कभी कहानी से दूर खींचने लगती है तो कभी चरित्रों को अनोखी करुणा प्रदान करती है। स्वयं लेखक के शब्दों में करुणा सम्भवतः उनके साहित्य का वादी स्वर है। इसीलिए उनके पात्र समस्त संघर्ष के बाद भी क्रान्तिकारी नहीं होते। वे विद्रोह के स्थान पर समर्पण करते दिखाई देते हैं।

उनकी कहानियों में यदि **देवदर्शिनी, आमि जे जलसाघरे** जैसी कुछ कहानियों को छोड़ दें तो अधिकांश असामान्य स्थितियों अथवा असामान्य चरित्रों पर आधारित ही हैं। वह मिसेज मास्टन हों, या स्मृतिजीव्या की श्रीमती डेविस, या बन्धछवि की माधवी—उन विधवाओं के प्रति करुणा ने ही लेखक को उनकी कहानी लिखने की प्रेरणा दी, यद्यपि जहाँ मिसेज मास्टन विघटन एवं टूटन का

प्रतीक बनकर पाठक को दुखी करती हैं, मिसेज डेविस के प्रति सम्मान की भावना उत्पन्न होती है। इसके विपरीत युवा माधवी है जिसे लेखक ने, कुछ सामाजिक दायित्व के नाते, और कुछ भौतिक यथार्थ के नाते, पुनर्विवाह का मार्ग दिखाया।

उसी सामयिक यथार्थ में एक असामान्य स्थिति है किसी गरीब असहाय, भिखारिन के गर्भ से सन्तान का जन्म—जिसने नरेश जी को **किसका बेटा** लिखने की प्रेरणा दी होगी। पूछे जाने पर वह भिखारिन बिना किसी लज्जा अथवा संकोच के स्पष्ट शब्दों में उत्तर देती है कि गरीब का बेटा केवल अपनी माँ का होता है। स्पष्ट है कि समाज में इस स्पष्टवादिता के लिए साहस उसे कितने दारूण दुख झेलने के बाद प्राप्त हुआ होगा।

ऐसी ही असामान्य स्थितियों एवं चरित्रों द्वारा प्राप्त हुई होगी उन्हें **निशाजी, दुर्गा, यह मर्द थी** आदि जैसी कहानियाँ लिखने की प्रेरणा, जिनमें कहीं मृत शय्या पर पड़ी छोटी-सी बालिका है तो कहीं एक गूँगी लड़की और कहीं विभाजन के समय भारत आती वह महिला, जिसके साथ अमानुशिक व्यवहार करके नव-निर्मित पाकिस्तान के लोगों ने उसके स्तन काट दिए थे।

ऐसी ही एक असामान्य स्थिति का परिणाम है तिष्यरक्षिता की डायरी, जिसमें लेखक ने एक वृद्ध शासक की युवा पत्नी की पीड़ा को रेखांकित किया है।

एक समर्पित महिला की श्रीमती शैला और **अनबीता व्यतीत** के दम्पति में भी कुछ ऐसी ही स्थिति मिलती है। श्रीमती शैला एक असामान्य युवा महिला है जो, लगभग चालीस वर्ष पूर्व, दिल्ली में अकेली रहती थी। जिसकी साहित्य, संगीत, चित्रकला आदि में पूरी पैठ है। वह पूर्णतया इन कलाओं के प्रति समर्पित है और बड़े खुलेपन के साथ अपना एकाकी जीवन कलाकारों के साथ बाँटते रहने का आत्म-विश्वास रखती है। वहीं **अनबीता व्यतीत** के पठन-पाठन को समर्पित डॉक्टर द्रविड़ और उनकी आयु में पन्द्रह वर्ष छोटी पत्नी चारु हैं, जो एक असहज दाम्पत्य जीवन बिता रहे है। **कदाचित** की पारिवारिक स्थिति भी असामान्य है, जिसमें गौरांग और चित्रा एक छत के नीचे रहने हुए भी कभी मिल नहीं पाते। व्यस्त टी0वी0 कर्मी चित्रा के लिए परिवार कोई अर्थ नहीं रखता, किन्तु वह पति को त्यागने का निर्णय भी एक झटके के साथ नहीं ले पा रही है। एक शीर्षकहीन स्थिति का वातावरण तो असामान्य था ही, कम-से-कम अधिकांश भारतीय समाज के लिए, जिनके लिए ईसाई पद्यति की अंतिम क्रिया बहुत परिचित संदर्भ नहीं है।

परन्तु एक बात स्पष्ट उभर कर आती है और वह यह कि नरेश मेहता अपनी कहानियों में निहित असामान्यताओं के विश्लेषण में गहरे नहीं जाते। उनकी कल्पनाशील एवं काव्यात्मक भाषा ही उन चरित्रों एवं स्थितियों की असामान्यता को उभारती उकेरती रहती हैं। उदाहरण के लिए, आधुनिका शैला की पृष्ठभूमि से पाठक अनभिज्ञ रह जाता है। वह यह भी नहीं जान पाता कि वाचक के प्रति उनका विशेष व्यवहार क्यों था और यह कि वे अपने सभी मित्रों को पत्र लिखकर कहाँ अन्तर्धान हो जाती है? इसी प्रकार अनबीता व्यतीत के डाक्टर द्रविड़ ने चालीस की आयु तक विवाह क्यों नही किया था? पच्चीस वर्षीय चारु ने उनसे विवाह क्यों किया और वह अपने नारी सुलभ व्यवहार से पति को

पुस्तकों से विमुख क्यों नहीं कर पाई? इसी प्रकार वे इस विस्तार में भी नहीं जाते कि टी0वी0 कर्मी चित्रा कैसे एक के बाद एक तीन कार्यक्रमों में लगातार दिखाई दे रही है— समाचार पढ़ते हुए, निर्देशक का इन्टरव्यू लेते हुए और फिर नाटक में झरना का अभिनय करते हुए? स्पष्ट है कि नरेश जी को यही लगता होगा कि यदि भूले से भी वे उन स्थितियों एवं चरित्रों के विश्लेषण में गए तो वह विस्तार उनके हाथ से निकलता चला जाएगा और उन्हें नया उपन्यास लिखने के लिए विवश करेगा। स्पष्ट है कि 'समय देवता' ने उन्हें मात्र उतने उपन्यास लिखने का अवसर प्रदान किया जितने कि उन्होंने लिखे, शेष सभी मात्र कहानी बनकर रह गए।

जलसाघर उनका तीसरा था अंतिम कहानी संग्रह था, जिसमें वैसे तो सात कहानियाँ हैं परन्तु एक अनबीता व्यतीत भी है जो अंतिम भाग में कुछ अंतर के साथ उनके दूसरे कहानी संग्रह में पहले ही प्रकाशित हो चुकी थी। इस बात की ओर अनायास ही ध्यान जाता है कि यह संग्रह, दूसरे संग्रह के बीस वर्ष बाद प्रकाशित हुआ था। बीस वर्ष में छः कहानियों में कम दो कहानियाँ— **आमि जे जलसाघरे और देवदर्शिनी** ऐसी हैं जिन्हें कहानी न कहकर ललित निबन्ध की श्रेणी में रखना ही उचित होगा। इस बीस वर्ष के अन्तराल में जो समाज में परिवर्तन आए उन्हीं के परिणामस्वरूप **कदाचित** तथा **आबार ऐशो** जैसी कहानियों का जन्म हुआ होगा। इसी बीच लेखक ने नारी को घर से बाहर निकलने के लिए व्याकुल हो कर मानसिक द्वन्द्व के दो-राहे पर खड़ा देखा होगा।

आज सभी साहित्य प्रेमी इस तथ्य से परिचित हैं कि नरेश मेहता के चरित्रों में नारी पात्रों की विशेष भूमिका रहती थी। उनके नारी पात्र जाने अनजाने कथानक के केन्द्र बिन्दु पर आ बैठते थे और पाठको के मन में अधिकतर उनके प्रति सम्मान, सहानुभूति अथवा करुणा का भाव ही उमड़ता था। चाहे वह **यह पथ बंधु था** की सरो अथवां गुणी हो, या **धूमकेतुः एक श्रुति** की वल्लभ बुआ। या कहानियों की बात करें तो निशा, दुर्गा, शादीलाल की पत्नी, तिष्यरक्षित या **तथापि** की पारुल। जहाँ श्रीमती शैला के प्रति सम्मानजनक आश्चर्य का भाव उत्पन्न होता है वहीं मिसेज मास्टन एवं लिजी के प्रति करुणा उमड़ती है।

इसमें समीक्षक भले ही शरत्चन्द्र का प्रभाव अथवा उस समय की 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' के संस्कार खोजने का प्रयास करें, सम्भवतः जो एक स्पष्ट मनोवैज्ञानिक कारण है वह है लेखक के जीवन में मातृसुख का अभाव। यह सर्वविदित है कि नरेशजी ने अपनी माँ को कभी नहीं देखा। डेढ़ वर्ष की आयु में ही माँ उन्हें छोड़कर गोलोकवासी हो गई थीं। शैशवकाल में बड़ी बहन ने पालन पोषण किया किन्तु दस वर्ष की आयु होते होते वे भी दिवंगत हुई। उसके दीर्घकाल बाद जीवन में पत्नी के रूप में महिमा जी आईं जिन्होंने एक वास्तविक अर्धांगिणी एवं शक्ति के रूप में उनके व्यक्तित्व एवं लेखन को सम्बल प्रदान किया। सम्भवतः यही कारण है नरेश जी जीवन भर नारी को खलनायिका के रूप में नहीं देख पाए। जहाँ कहीं ओछी प्रवृत्ति के अथवा कटुभाषी महिला चरित्र आए भी, जैसे के **यह पथ बंधु था** में श्रीधर की भाभियाँ अथवा गुणी की सास, वे सम्भवतः सरस्वती तथा गुणवन्ती के चरित्र को उभारने के उद्देश्य मात्र से।

विवाह से लिखे डूबते मस्तूल की नायिका रंजना सम्भवतः इसी मनोवैज्ञानिक ग्रंथि के कारण रहस्यमय चरित्र है। यद्यपि मित्रों की सलाह पर उसकी कथा में अनेक बार पुनर्लेखन के कारण उसका चरित्र बहुत तर्कसंगत नहीं रहा, फिर भी नरेश जी ने उसे किसी भी दृष्टि से खलनायिका नहीं बनने दियां।

नारी के प्रति उनके उदार भाव की अभिव्यक्ति उनकी कविता की पंक्तियों में मिलती हैं:

सिर से पैर तक
विवश देवत्व का नाम
स्त्री
और सिर से पैर तक
आक्रामक पशुता का नाम
पुरुष

और—

पुरुष, शिला पर पड़ी बूँद के समान है
किन्तु नारी
वह बूँद है
जिस पर शिला टिकी है।

नारी के प्रति जीवन भर नरेश जी का यही भाव रहा, यद्यपि समय के साथ पश्चिमी स्वभाव की बदलती हुई नारी का रूप भी उनसे छिप नही सका। सम्भवतः बड़ी विवशता के साथ उन्होंने टूटते परिवार की कहानी **कदाचित** और कविता **आज यदि** लिखी होगी।

आज यदि हुआ होता
द्रौपदी का चीर हरण
तो न तो द्रौपदी को ही निराशा होती
न दुःशासन की बाँहें थकतीं।
स्वयं द्रौपदी ही कहती—
अपनी पार्टी के नेता के लिए
चीर हरण ही क्या
शील-हरण भी स्वीकार है।
निश्चित ही
तब महाभारत न हुआ होता
और कितने पहले लोकतंत्र भी स्थापित हो गया होता।

नरेश मेहता को जीवन के अनेक रंगों का अनुभव था जो उनका स्वयं जिया हुआ और भोगा हुआ अनुभव था। वे युवावस्था में सिर घुटा कर बौद्ध भिक्षु बने, स्वाधीनता संग्राम में भी भाग लेते

रहे, यू0टी0सी0 में रह कर सैन्य शिक्षा भी प्राप्त की, कम्युनिस्ट पार्टी में रहकर और उससे निराश होकर छोड़ने के बाद कटु-अनुभव भी झेलते रहे। ये सभी अनुभव उनके लेखन को समग्रता प्रदान करते थे उन्हें भारतीय शास्त्रीय संगीत एवं चित्रकला का ज्ञान था, बंगाली भाषा के ज्ञान का भी परिचय मिलता है और उन्होंने पश्चिमी साहित्य भी पढ़ा था।

यों तो नरेश जी ने अपने लेखन में कुछ शैलीगत प्रयोग भी किए, जैसे कहीं फ्लैश बैक तो कभी डायरी लेखन के रूप में, किन्तु काव्यात्मक वर्णनों का स्वर ही उन के लेखन में सर्वोपरि है। गद्य लिखते लिखते भी वे यदाकदा गद्य-काव्य अथवा ललित निबन्ध की शैली में बह जाते थे। ऐसे वृहत वर्णन जहाँ उपन्यासों में सुखद परिहार देते है वहीं छोटी-छोटी कहानियों की कथा-वस्तु पर हावी हो जाते हैं।

नरेश मेहता के कथा साहित्य पर बात घूम-फिर कर उनकी आत्म स्वीकृति पर आ जाती है कि वे कहानीकार नहीं हैं, क्योंकि छोटा कैनवास उनकी प्रकृति को रास नहीं आता और उनके लिए कहानी बस वही है जो उपन्यास नही बन पाई। इसी के साथ उनका कथा साहित्य बारम्बार स्मरण करता प्रतीत होता है कि —

हमारे तुम्हारे बीच
कविता के अतिरिक्त
कोई तीसरा उपस्थित नहीं है।



'साक्षात्' के कवि : श्री नरेश मेहता

• प्रो. मीरा श्रीवास्तव

सत्य का साक्षात् सृष्टि मात्र का अभिप्रेत होता है, पर इस तक पहुँच कौन पाता है? मनुष्य अपनी मानसिकता की सीमाओं, द्वन्द्वों और उसके बीच विवेक के स्वीकार-निषेध में फँसा रहता है। वह अनाविल दृष्टि जो सीधे सत्य का साक्षात् कर सके उस 'तीसरी आँख' को खोलकर, किस कवि का सृजन शिवत्व धारण कर सका—इसकी पहचान कविता के ऊर्ध्व उत्स से हमें जोड़ देती है। श्री नरेश मेहता ने कहा भी है कि "कविता एक सत्ता है सनातन।" वह सदैव ऊर्ध्वस्थित एक सतत सामुद्रिक सत्ता है, जो 'निपात्' के रूप में कवि व्यक्तित्व पर अवतरित होती है। यह निपात् या कविता का साक्षात् जिस ऊर्ध्व चेतना पर, मन-प्राण-देह के अर्थात् व्यक्तित्व के प्राकृत धर्म के उल्लंघन (आत्मोल्लंघन) पर प्राप्त होता है वह कवि को द्रष्टा बना देता है। हमारे यहाँ 'कवि मनीषी' का एक साथ स्मरण अकारण नहीं है। मनीषी हुये बिना कविता का शुद्ध निपात् होता ही नहीं, साक्षात् होता ही नहीं। और कवि नरेश मेहता कल्पना/भावना/बुद्धि/संवेग-आवेग आदि के कवि न होकर सीधे साक्षात् के कवि हैं। इस ऊर्ध्वता तक, या इस अंतस्थता तक पहुँचने के लिए कवि मन: पुरुष से परे 'चैत्य पुरुष' या 'मनीषी व्यक्तित्व' बन जाता है, तभी कविता का किसी भाषाहीन सनातन सत्ता का साक्षात् होता है। कविवर नरेश मेहता ने अपनी परवर्ती कविताओं में यही 'साक्षात्' उपस्थित किया है—बुद्धि कल्पना, भाव कल्पना आदि से रहित अनाविल सृष्टि जो सत्य होने के साथ-साथ राशि-राशि सौंदर्य से मंडित, रूप रस गंध से द्रवित एक जैवीय संपदा का आगार खोल देती है। श्री नरेश मेहता के बारे में उन्हीं का कथन सत्य है : "जिसे कवि कहा जाता है वह तो मात्र प्रस्तोता होता है, वह इसलिए कि कवि नहीं बल्कि उसका मनीषी व्यक्तित्व या चैत्यपुरुष उस काव्य साक्षात् का अनुभवकर्त्ता या द्रष्टा था। उस अनभिव्यक्त को उस कवि ने मात्र अभिव्यक्त करने की चेष्टा की। मैं भी प्रस्तोता के अर्थ में ही इन कविताओं का कवि हूँ, कर्त्ता के अर्थ में नहीं, ..." (अथातो काव्य जिज्ञासा, 'उत्सवा', पृ. तेरह)

प्रस्तोता और कर्ता का भेद समझना दुष्कर नहीं है। कर्ता में कवि का रचयिताभाव या 'अहं' केन्द्र में होता है, वह घूम फिर कर अभिव्यक्ति में भी आ जाता है, जबकि प्रस्तोता को अहं का उल्लंघन करते हुए एकात्म चेतना में, सन्धि रहित समरसता में

पहुँचना होता है। ऐसा प्रस्तोता काव्य रचता नहीं काव्य साधना करता है। कवि नरेश ने अपने समकालीनों से अलग, अपांक्तेय होकर यह काव्य साधना की है। उनका मानना है (और उनकी कविता इस बात का प्रमाण भी है) कि ''ऐसी काव्य साधना, भाषा तथा व्यक्तित्व दोनों स्तरों पर करनी होती है। अपने चैत्य पुरुष या मनीषी-व्यक्तित्व वाले दृष्टा की भावातीत विराटता में अपने कवि की सीमाओं, भाषागत एवं व्यक्तित्वगत का उत्तरोत्तर विस्तार करते जाना ही साधना है।.....एकात्मता की इस प्रक्रिया में कवि को ही उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी होना होता है। साक्षात् स्वयं नीचे नहीं आता, हाँ वह उच्च होने में सहायता कर सकता है।'' (वही पृ. १५) ऊर्ध्व होना सबके वश की बात नहीं, आर्षकाव्य तक पहुँचने वाला कवि अपनी सारी सीमाओं का उल्लंघनकर्ता बनता है। सीमाओं का उल्लंघन एक ओर जहाँ उपनिषदीय अद्वैतता की ओर ले जाता है तो दूसरी ओर वैष्णव निस्वता तक। और नरेश जी के कवि व्यक्तित्व में दोनों का ही उद्रेक है। वे मानते हैं कि ''उपनिषदीय अद्वैतता और वैष्णवी समर्पण, तत्वतः एक ही हैं।'' (वही पृ० १५)

श्री नरेश मेहता के कवि व्यक्तित्व ने आर्षता और वैष्णवता को एक ही व्यक्तित्व में, कविता के समरस कृतित्व में साकार कर दिया है। इस अर्थ में वे भारतीय वैदिक परंपरा के ऋषित्व, और वैष्णव रसाकुलता के मार्दव को परस्पर ओतप्रोत कर सके हैं। क्योंकि 'साक्षात्' केवल ऊर्ध्व में स्थित नहीं रहता, वह चराचर सृष्टि में लीला बनकर, चर और गोचर बनकर फैल जाता है। वह गोमुख ही गंगा बनकर धरती पर अवतरण करता है। अवतरण की इस कविता के संवाहक हैं कवि नरेश मेहता। कविता की इस शिव–शक्ति का अनुभव उन्हें हुआ कविता के साक्षात् से। वह यह भी कहते हैं कि ''कविता की कोई संज्ञा नहीं है क्योंकि वह तो शुद्ध शक्ति है। उसका अनुभव या साक्षात् भी निपात् जैसा ही होता है। निपात् का साक्षात् भी मात्र व्यक्ति नहीं, मनीषी ही कर सकता है।'' (वही. १६)

कविर्मनीषी बनकर ही नरेश मेहता 'साक्षात् ' को भाषा में उतार सके हैं। अन्यथा काव्यभाषा के विश्लेषण से उन्हें समझना दुस्साध्य है। भावातीत अवस्था की भाषागत समीक्षा, अर्थात् संरचना असंरचना की मीमांसा दृष्टि से संभव नहीं। इसलिए श्री नरेश मेहता की कविता को हम उन्हीं जैसा ऊर्ध्व व्यक्तित्व प्राप्त करने की आकांक्षा या प्रयास से समझ सकते हैं। उसका उस तरह से साधारणीकरण नहीं हो सकता जिस तरह से समकालीन या उत्तर आधुनिक कही जाने वाली कविताओं का होता है। वे कविता को ऋषि या वैष्णव परम्परा से जोड़ सके, आधुनिक संदर्भों और बौद्धिकता या जैविकता को नया अर्थ दे सके— यही उनके कवि व्यक्तित्व का चमत्कार साथ ही साथ अद्भुत प्रियता का कारण है। इस दृष्टि से, कवि व्यक्तित्व की हैसियत से वे न केवल अपने समकालीनों, वरन् निकट पूर्वजों से भी अलग, अपांक्तेय हैं। वे कहते हैं:

लेकिन रच दिये जाने पर
मैं कहाँ रहूँगा?
अभी जो यह केवल ध्वनि 'मैं'।
अर्थ पाकर कविता हो उठेगी,
और कविता विराट बनाती है।

(अरण्या, विराट का भय पृ० २)

जब शब्द अपनी शब्द–सत्ता और सम्भावना खो देता है तब वह 'शोर' बन जाता है। आज कविता में शोर बहुत है, 'शब्द सत्ता' का साक्षात् नहीं। जहाँ भाषा का विलयन होने लगे, शब्द अक्षरा होने लगे तभी साक्षात् की वाणी मिलती है। 'पश्यन्ती' का प्रकाश भासता है :

शब्द मुझ तक आया
और बोला,
मुझे अपनी भाषा नहीं
स्वत्व बताओ।
और वह अपने भाषा व्यक्तित्व पर से
अर्थ उतारने लगा
जैसे अर्थ केंचुल था।
अर्थ से मुक्त
शब्द—
तत्व बन गया था,
तभी अक्षर भाव से वह
एक क्षण के लिए प्रकाशित हुआ
और क्षणान्त में मुझमें विलीन हो गया। (अरण्या : विलयन, पृ० ३)

शब्दातीत होना कविता का 'साक्षात् ' है। वे मानते हैं कि विराट और व्यक्तित्व के बीच/ नाम ही सबसे बड़ी असुविधा है। प्रकृति में किसी का कोई निजी नाम या 'अहं' की संज्ञा नहीं होती इसलिए वह 'कामधेनु' की आप्तकामता से भरती रहती है। कवि को अपना 'नाम' भी कहीं टाँग देना पड़ता है। साक्षात् के कवि को औघड़, पारदर्शी, आदिम, अनागरिक बनना पड़ता है —

यदि बन सको—
इन पर्वतों की भाँति औघड़
नदियों की भाँति पारदर्शी स्वरूप
और इन आदिम हवाओं की भाँति अनागरिक
तो, तुम्हें

यह घासों वाली छोटी सी निर्जनता ही
केश खोले किन्नरियों सी अलभ्य लगेगी
और इसी अलभ्यता के आमंत्रण के
किसी छोर पर ही
साधारण दूर्वाओं जैसी यह अप्राप्यता है
जो कामधेनु है।

कवि उस कालवृक्ष का संधान करता है 'जो प्रकाशों का प्रकाश/जो ध्वनियों की भी ध्वनि/और जो समय का भी समय है/वह सत्ता सुमेरू कालवृक्ष कहाँ है?' (अरण्या, पृ. ६१) अंतरिक्ष में इसी आंतरिकता की प्रतिध्वनि बनती हैं हवायें :

चिड़ियों की तरह चौंकते हुये
निर्दोष महीन कोलाहल के साथ
मेरा प्रश्न सुनकर
वे हवाएँ—
भीतरी आकाशों में उड़ जाने को हुईं
शब्दों, ध्वनियों और कोलाहलों को
शून्य के उस गोपुर तक वे ले जाती हैं
जहाँ से प्रकाश की अनन्तता वाले महाकाश आरंभ होते हैं।

कहाँ है? (वही, पृ० ६२)
कहाँ है वह कालवृक्ष?
कौन-सा है वह कालवृक्ष जिसकी हमारे आकाशों में
दिवस और रात्रियाँ प्रशाखाएँ हैं। (वही, पृ० ७०)

'काल' के साक्षात् की यह कविता अपने सामुद्रिक आवर्तों से हमें न जाने कहाँ कहाँ, सभ्यता के किन-किन गुंजलकों को खोलती हुई मनुष्य की चेतना को 'विराट' के नंजदीक ले जाती है, और उसका स्वत्व उस विराट में इतना नगण्य हो जाता है कि वह विलयित हुये बिना नहीं रह पाता। आत्मोल्लंघन की यह शब्द साधना ही 'कालवृक्ष' की कविता में प्रस्फुटित हुई है। पर कवि कहीं भी, चराचर के किसी भी छोर पर क्यों न संवाहित हो जाये, विराट, की औपनिषदिता उसे क्यों न प्राप्त हो जाये, वह 'अरण्यानी से वापसी' धरती ५र लौटना चाहता है क्योंकि वहीं 'विराट् करूणा/पीड़ा मात्र बनकर आनन्द के मंत्र/आसक्ति के पद/तन्मयता के कीर्तन/विनय की प्रार्थना/और लालित्य के ज्ञान बनकर कविता अवतरित होती है। यह भी सच है कि 'इतिहास और राजनीति में दग्ध हुए/मनुष्य मात्र को/अब केवल कविता की प्रतीक्षा है। इसलिए श्री नरेश मेहता 'एक कवि न रहकर/अपने समय की सबसे बड़ी घटना बन सकूँ—एक कविता। बनने की आकुलता से

ओतप्रोत हैं। उनकी 'अरण्यानी से वापसी', ऊर्ध्वता से अवतरण जरूरी है। यहीं काव्य वैष्णव व्यक्तित्व धारण कर धरती को पवित्रता से उत्सव अभिषिक्त कर देता है :

मैंने सूर्य को अर्ध्य दिया ही इसलिए था कि
उसकी तेजस्वी सूर्याएँ
नित्य मेरी गलियों में
इस धरती पर आकर

मनुष्य, पशु, पक्षी, फूल, वनस्पतियाँ, बनकर उगें।
धरती, सूर्य की सुगन्ध हो जाये, पर
किसने अपमानित कर दिया है मानवीय देवत्व को।
जीवन की कुलगोत्रता को ?
नहीं—
मनुष्य से लेकर दूर्वा तक के अपमानित मुख पर
मेरी वैष्णवता!
मेरी कविता को लिखनी होगी।
एक गरिमा
एक पवित्रता
एक उत्सव।
मनुष्य या दूर्वा
किसी के भी हँसते हुए मुख से बड़ी
न कोई प्रार्थना है
न कोई उत्सव है
और न स्वयं ईश्वर ही। (वही, पृ० ५९)

कवि नरेश मेहता कविता की ऊर्ध्वयात्रा को, शब्द की अक्षर साधना को इसीलिए अवतरित वैष्णवता अर्थात प्रार्थना पर उतार लाते हैं। प्रार्थना और कविता का अनादि संबंध रहा है, वैदिक काल से ही। वे कहते हैं :

चलो मेरी वैष्णवता
मेरी प्रार्थना! मेरी कविता! चलो—
इस पृथिवी पर वनस्पतियाँ बनकर
सृष्टि की भाषा बनकर चलो,
प्रत्येक चलना अवतार होता है
धूप, सूर्य का
और नदियाँ, बादलों का अवतार ही तो है।
सृष्टि मात्र को

मनुष्य मात्र को इतिहास और राजनीति नहीं
एक कविता चाहिए। (वही, पृ० ÷५९)

नरेश मेहता 'मानवीय देवत्व' के कवि हैं, और उनकी कवितायें इसी की प्रार्थना से भरी हुई हैं। यही उनके काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व है :

मेरी वैष्णवता !
एक कविता
एक कदम्ब सी उपस्थित होओ ।
कविता जब प्रार्थना हो जाती है ।
कविता जब मनुष्य हो जाती है
तब वह
इस पृथिवी की
साधारण जन की रामायण हो जाती है। (वही, पृ० ६०)

इस वैष्णव व्यक्ति से परे जो कुछ भी है, वह उनकी निगाह में कविता नहीं। इसीलिए वे 'पोस्टरों के वस्त्र' भाषा को दोगला या गाली बना देने वाले भाषण तथा नारों को, जो मनुष्य के स्वत्व से चिपके, शरीर पर गोदे हुए शब्द जैसे हैं उन्हें उतार फेंकने के लिये कहते हैं। ये भाषण, नारे पोस्टर कविता एक सत्ता है सनातन्' से कोसों दूर है। कविता की वापसी नितान्त आवश्यक है, क्योंकि भाषण, नारे, पोस्टर इतिहास और राजनीति से दग्ध मनुष्य के शब्द चिह्न हैं, मनुष्य की कविता नहीं।

पर कविता भारत में केवल वैष्णव व्यक्तित्व पर ही सदा नहीं उतरती, उसका एक शाक्त व्यक्तित्व भी रहा है—स्वयं महाभारत और रामायण में—जिसने देश की सांस्कृतिक अस्मिता को बनाये रखा है। वैचारिकता का वह ऊहापोह जो क्षत्रियत्व को पंगु बना दे–किस रूप में कविता की ऊर्जा बन सकता है? अर्थ और काम के धरातल पर, इतिहास और राजनीति की प्रतिसम्यता रचने के लिए जब जब कविता उतरी है उसने भारत में, एवं अन्यत्र भी एक प्रति संस्कृति को रचा है। ये आख्यानक काव्य ही हैं जो जनसाधारण के बीच संस्कृति के अक्षय स्रोत बनकर आज तक बहते रहे हैं, किसी के दार्शनिक चिंतन नहीं, न हीं कोई धर्मशास्त्र। 'संशय की एक रात' में राम हैमलेट के टोब ऑर नाट टोब (tobe or not tobe) की अवस्था में फँस गये हैं। वे 'नरसंहार के व्यामोह के प्रति/वितृष्ण से भर उठा हूँ' कहते हुए ऐसे युद्ध, ऐसी विजय, ऐसी प्राप्ति सबको मिथ्या समझने लगे हैं। पर यह व्यामोह तो अर्जुन को भी व्यापा था, और तब भगवद्गीता का काव्य में अवतरण हुआ था। भगवद्गीता 'नारदभक्तिसूत्र' या उपनिषद् की तरह योगचिंता नहीं है वह दुर्दान्त इतिहास और राजनीति के बीच, अर्थ और काम की भीषण भावभूमियों पर भावातीत कविता है। राम की चिंता अपनी जगह सही है—

मैं केवल युद्ध को बचाना चाहता रहा हूँ बंधु !
मानव में श्रेष्ठ जो विराजा है
उसको ही
हाँ, उसको ही जगाना चाह रहा हूँ बंधु !
क्या यह संभव है ?
क्या यह नहीं है ?

गाँधी जी ने भी युद्ध को टालकर भारत की स्वतंत्रता अर्जित करने का मार्ग खोजा—पर क्या स्वतंत्र भारत 'मानव में श्रेष्ठ जो विराजा है' उसको आज तक जगा पाया? दूसरा पथ है ''महाप्रस्थान'' का। युधिष्ठिर कहते हैं :

मैंने मात्र शास्त्र व्यवस्था के कारण ही
वानप्रस्थ नहीं स्वीकारा
परन्तु
यह मेरी वैचारिकता का निष्कर्ष था बंधु। (महा प्रस्थान, पृ० १०५)

वे मानते हैं कि 'वस्तुओं से हीन होते जाना' व्यक्तित्व से सम्पन्न होते जाना है। पर जनक-संज्ञक एक दूरगामी पथ है। जरूरी नहीं कि हम श्री नरेश मेहता से इस बात पर सहमत हों :

वस्तुओं और सफलताओं के माध्यम से
अमरता प्राप्त करने को ही तो
तुम पुरुषार्थ और संकल्प कहते हो ?

युद्ध व आतंक युधिष्ठिर को निर्वेद की ओर ले जाता है। उनके इस कथन से हम सहमत हैं कि अकेला दुर्योधन ही/दुर्विनीत नहीं था अर्जुन। व्यवस्था का मुकुट धारण करते ही किसी भी व्यक्ति का मनुष्यत्व नष्ट हो जाता है।(वही, पृ० १२३) हम सभी इतिहास और राजनीति से दग्ध हैं, संकट की गहराई भी समझते हैं कवि की तरह :

मानवता का यह रथ
किस अंधे मार्ग पर बढ़ रहा है
तुम नहीं जानते पार्थ ।
तुम नहीं जानते कि
संकट कहीं अधिक गहरा है। (वही, पृ० १०८-९)

यह सच है कि युधिष्ठिर ने अपने भीतर व्यक्ति की प्रज्ञा को धुंधलाने नहीं दिया पर वह यह स्वीकारते हैं कि 'इस प्रज्ञा अग्नि को विराट को लौटा देने के लिए ही यह हिमालय-आरोहण हैं बंधु।' ''स्वाहापर्व'' में वह कहते भी हैं :

आओ
चलें

एक विराट भाषाहीनता में
एक अनुच्चरित मंत्र से समर्पित हो जाएँ। (वही, पृ० १३४)

पर 'भाषा हीनता' की स्थिति तक यदि कविता पहुँचती है तो इसलिए नहीं कि वह एक अनुच्चरित मंत्र सी समर्पित हो जाय। मौन एक नये मंत्रोच्चार का उत्स होता है, भाषा का भाषाहीन होते जाना मंत्र के उद्गम तक पहुँचाना होता है। यदि कवि नरेश मेहता इतिहास और राजनीति की दग्ध धरती पर भी यह मंत्रोच्चार सुना सकते, एक नई रामायण या नया महाभारत रच सकते तो अपेक्षित ही होता।

पर जो वे रच सके वह अपनी अभिवन वैष्णवता में और वैष्णवभाव की उत्सवता में अप्रतिम है।

धरती के प्रार्थना पदों सी
आलाप लेती ये पगडंडियाँ

अथवा

चंदन देहयष्टि सा झाँकता हुआ
हमारा किशमिशी रोज का सादा सा दिन

यह किसमिशी सा सादा दिन विराट बन जाता है— वासुदेव ! अथवा 'विष्णु आकाश' जब लगता है :

और सूर्य—
गर्भ से निकले शिशु की भाँति
सप्तमातृकों की खोज करता हुआ
दैदीप्य आभा में
पृथिवी की ओर
अपने देवनेत्रों से प्रथम बार
दिन देख रहा था। (उत्सव, देव शिशु का जन्म, पृ० ३२)

सारी सृष्टि वैष्णवता का महाभाव धारण किये खड़ी है। नरेश जी ने उसे 'कवि की दृष्टि' से देखने के लिए 'उत्सवा' में हमें आमंत्रण दिया है। वे आग्रह करते हैं :

आदिवासी इन अरण्य पुत्रियों को
एक कवि की दृष्टि से देखो—
कैसी उपनिषदीय आश्रमता अनुभव होती है !
पशुप्रिया दूर्वाओं के
ये हरिद्र अंकुर
क्या मात्र पत्तियाँ ही हैं?
इनमें स्तुतियों की सी कृतकृत्यता नहीं लगती?
क्या इन उपेक्षित घासों को

किसी ऋषि की करुणा ने
कोई अनुष्टुप नहीं सौंपा?
इनमें किसी देवता का वास नहीं लगता?

(वही, महाभाव पृ० ४१–४२)

यह 'पैनथीज़्म' नहीं है, यह प्रकृति के अनाम उपकरणों में उपनिषदों का, ऋचा का, देवता का वास अनुभव करने का आमंत्रण है। यह नया पृथिवी-उपनिषद है, नई प्रकृति ऋचा है, नया वैष्णव सूक्त है जो आज के युग में नारायण की प्रतीति को जगाता हुआ उसे प्रकृति उत्सव में शामिल होने को बुलाता है। शायद 'भावातीत' कविता का यही योगदान हमें 'प्रकृति क्षय' की भक्षक प्रवृत्ति से बचा सके।

रूप रस गंध के इस कवि रचित उत्सव में शामिल प्रकृत मनुष्य धीरे-धीरे वैष्णवत्ता के साक्षात तक पहुँचाया जाता है :

हवाएँ—
पीपल पर अपनी प्रार्थनाएँ टाँग
सूर्यास्त का पीछा करते हुए
आकाश के भी आकाश में
गरूड़ों सी जो चली गई हैं
केवल उन्हें लौट आने दो,
क्या इस वैष्णवता से साक्षात् के लिए
तुम हवाओं के लौट आने की
प्रतीक्षा भी नहीं कर सकते?

(उत्सवा: साक्षत् के लिए पृ० ८०)

इतनी सादी सी भाषा में वैष्णवता उपस्थित हो उठती है। वैष्णवता का मूलमंत्र है प्रार्थना : 'प्रार्थना धेनुएँ' से शुरू होकर यह 'प्रार्थना पुरुष' तक पहुँचती है। यह प्रार्थना ही मनुष्य को निष्णात् सुगन्धित किये हुए है/ जो तुम्हें ईश्वर की ओर लिये जा रहा है क्या हमनें

कवच की इस अभेद्यता
प्रार्थना की इस अनुग्रहता
मंत्र की इस शक्तिमत्ता को
कभी अपने में अनुभव किया है? (वही, प्रार्थना पुरूष, पृ० ९१)

यह प्रकृति ही है जो हमारी जैविकता का आमूल संस्कार करती है, उसे वैष्णव व्यक्तित्व प्रदान करती है। घास की अनाम पत्ती किसी के कोमल चरणस्पर्श सी लगती है, धूप में उड़ती हुई चिड़ियाँ किसी के प्रसन्न नेत्रों सी। और केले पर गिरी हुई ओस बूँद 'पंचामृत का स्मरण कराती है या नहीं? 'प्रार्थना को जन्म देने पर 'संपूर्ण सृष्टि उपहार लिए उपस्थित' दिखेगी। कवि का विश्वास है :

जिस दिन
तुम्हें पृथ्वी पर प्रार्थना करना आ जाएगा—

उस दिन तुम मंत्र
मंत्र ही नहीं मंत्र देवता
मंत्र देवता ही नहीं, मंत्र पुरुष हो जाओगे।

(वही, प्रार्थना पुरूष पृ० ९२)

प्रार्थना की समस्त वानस्पतिकता के बीच इतिहास की जैविकता फिर भी उपस्थित होती है। और जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, नरेश जी के लिए इतिहास से सर्वदा उदासीन होकर वानस्पतिक हो जाना ही वैष्णवता है या प्रार्थना है :

फूल, वनस्पति की स्वाहावाणी है –
और प्रार्थना, मनुष्य की ।
इसीलिए
प्रति इतिहास हो जाने का नाम नहीं
बल्कि इतिहास से सर्वथा उदासीन होकर
वनस्पति हो जाने का नाम ही प्रार्थना है।

(वही, इतिहास और प्रार्थना पृ० ८१)

इस उदासीनता के कारण भी कवि अपने समकालीनों से अलग हो गया है। वह समझता है :

न केवल अकेलापन ही
बल्कि समकालीनता से अपांक्तेय होना क्या होता है।
रक्त–स्नान से कहीं अधिक दुर्वह है
प्रार्थना का यह अग्नि–अभिषेक।
नारे के हथगोले को फेंकने से कहीं अधिक दुष्कर है।
किसी को प्रार्थना का फूल सौंपना।
इसीलिए
प्रतिइतिहास हो जाने का नाम नहीं
बल्कि इतिहास से सर्वथा अनासक्त होकर
निर्भर हो जाने का नाम ही प्रार्थना है। (वही, पृ० ८२)

यह सच है कि 'इतिहास के अग्निवन' में खिले ये 'प्रार्थना फूल' अपने माधवी सुगंध का धर्म हमें सौंपते हैं। और नरेश जी के काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व मानता है कि 'जीर्ण पोथियों और उपेक्षितों के/नेत्रों की भाषा हो जाने का नाम ही प्रार्थना है।' यह प्रार्थना अपने भीतर देवपुरुष को जगाने को ही सदा से उठती रही है। अपने प्रथम काव्य संकलन 'बनपाँखी सुनो' में ही नरेश जी ने इसका बीजवपन कर दिया था—

पश्चिम तट खोजो,
मत जाने दो अपमानित, उपेक्षित, तिरस्कृत
देवों के यश से उजले उस दिन को—
डाको,
विनयो—

लौटो—
ओ सम्यक दिन! लौटा
हमें आलोकों
हमारी रचनाओं को दूबों का शील दो—
हमारी मृत चेतना को धेनु करो,
धूपाभिषिक करो''—
(बनपाँखी सुनो : मित्र हूँ, प्रियंवद हूँ, वही, पृ० ३७)

इसी अर्थ में नरेश मेहता सचमुच अपांक्तेय होते चले गये, वे ऋषित्व की ओर बढ़ते चले गये। 'असतो मां सद् गमय, तमसो मां ज्योर्तिमगमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय' की अभिधात्मक प्रार्थना को उन्होंने बिम्ब, प्रतीक, मिथक, कथा-प्रबंध, नैरेशन-न जाने कितने वर्णों में प्रस्तुत करते हुए काव्य को वैष्णवभाव से परिधानित किया है। यह उनको ऋषि नहीं, ऋषि को घनघोर कवि बनाता चला गया। 'केवल वही' में वह कहते भी हैं :

सब नहीं
केवल वही कविता बने
स्वीकृत हुए जो फूल
अन्तर में विराजे
कदम्बप्रिय वनमाली को। (आखिर समुद्र से तात्पर्य: पृ० ४७) यही कारण है कि कवि आश्वस्त हैं :

आज तो नहीं
पर कल तुम अपने को
निश्चत ही इन कविताओं में वैसे ही पाओगे
जैसे आकाश, नदी या फूल देखते हुए
तुम अपने को उपलब्ध करते हो। (वही, भ्रम, पृ० ५८)

८९ टैगोर टाउन, इलाहाबाद



श्री नरेश मेहता का कवि व्यक्तित्व :

दी है फकीरी तो देना संकल्प भी

● प्रमोद त्रिवेदी

मैं अक्सर सोचता हूँ, आखिर नरेश जी में वो क्या विशेषता थी जो उन्हें सबसे अलग करती थी—अपने समय से भी अलग! हाँ, वह अपने समय और समाज के चलन से बिलकुल अलग थे। उन्होंने अपने को समय के अनुरूप ढालने की कोशिश भी नहीं की। वे अपने सर्जक के समय में ही निरंतर बने रहे। इसीलिए लोगों को उनसे संवाद करने में असुविधा होती थी। शायद इसी वजह से उनके बारे में लोगों ने अपनी-अपनी धारणाएं बनाईं। नरेश जी को भी खबर रहती थी कि उनके बारे में कौन क्या सोचता है, पर उन्होंने कभी इसकी परवाह नहीं की। यह सब सोचते हुए उनकी ये पंक्तियाँ सहसा कौंध गई। उनकी प्रकाशित पुस्तकों में प्रकाशित संक्षिप्त जीवन-परिचय के अन्त में ये पंक्तियाँ काफी समय तक पढ़ने को मिलती रहीं—

"ओ मेरे दाता!
दी है फकीरी तो देना संकल्प भी।।"

एकदम सीधी और स्पष्ट लगने वाली ये काव्य-पंक्तियाँ उनके व्यक्तित्व, कहना चाहिए उनके काव्य व्यक्तित्व का स्पष्ट बिम्ब है। पहली पंक्ति तो मात्र सम्बोधन है। फकीरी दी गई है। इस पर नरेश जी का वश नहीं था पर वह मिल ही गई तो प्रतिरोध भी नहीं किया। फकीरी याचक मुद्रा नहीं है। उचित होगा कि इसे ठीक से जान लें। उचित होगा नरेश जी के ही शब्दों में—

"शाह के न राजा के
किसी के नहीं चौबदार
अलख बादशाहत का भेद मत देना
अबधू! भेद मत देना।"

यह वही दृढ़ता उद्‌घोषित करता संकल्प है जो कभी—"संतन को कहा सीकरी सों काम" या—"तुलसी अब का होई हैं नर के मनसबदार।" में हुआ था। यह फकीरी ही है जो घोषणा करती है—

मनुष्य से लेकर दूर्वा तक के अपमानित मुख पर
मेरी वैष्णवता
मेरी कविता को लिखनी होगी
एक गरिमा
एक पवित्रता

मनुष्य का दूर्वा
किसी के भी हँसते हुए मुख से बड़ी
न कोई प्रार्थना है
न कोई उत्सव
और न स्वयं ईश्वर ही
मेरी अरण्यानी!
युधिष्ठिर की भाँति आग्रह करना ही होगा कि
मुझे अकेले नहीं
पूरी मानवता के लिए
सृष्टि मात्र के लिए स्वर्ग का प्रवेश स्वीकार होगा
इस से कम नहीं
इसलिए मेरी अरण्यानी! मुझे यहाँ से वापस अपनी धरती
अपनी शाश्वती के पास लौटना ही होगा।''

इस फकीरी का अर्थ था—जब भी रहूँ/समर्पित रहूँ अन्य को।

श्री नरेश मेहता अपने इस फकीरी संकल्प को अपनी-अपनी काव्यात्मकता में मूर्त होता देखना चाहते रहे। इस लेन-देन की शुद्ध कारोबारी दुनिया में यह सोच और मुद्रा असंभव ही नहीं, मिथ्या भी लग सकती है। अधिकांश ''चतुरजनों'' ने इसे उनकी एक मुद्रा ही माना। कह सकते हैं स्नाबरी। क्या-क्या नहीं कहा गया पर सारा विरोध और सारी कोशिशें उन्हें अपनी मान्यता और मार्ग से विचलित नहीं कर सके। उनके लिए उनका सम्पूर्ण सृजन कर्म 'शब्द यज्ञ'' हो गया, जिसके वे मंत्र भी थे और आहुति भी। वे इस यज्ञ की अग्नि भी थे और स्वयं होता भी। उन्होंने इस बात की कभी चिन्ता नहीं की कि उनकी इस आनुष्ठानिकता को कौन गम्भीरता से ले रहा है और कौन उपहास कर रहा है। उनकी इस नैष्ठिकता को ''समाज विमुखता'' भी घोषित किया। जब कि नरेश जी यही कहते रहे—

''लिख सकूँ प्रत्येक की
हाहाकार कोलाहल कथा
यह एकान्त दो
ओ वरेण्य पिता!

कोलाहल में तो केवल कोलाहल ही रचा जा सकता है पर कोलाहल का शब्द सृजन करने के लिए एकान्त की दरकार होती है। यह ''कथा'' व्यक्ति के माध्यम से समष्टि की भी हो सकती है और समष्टि के माध्यम से व्यक्ति की भी। इसी सर्जनात्मक एकान्त के लिए वह एक दिन यह निर्णय लेने को बाध्य हुए थे—

''राजपथ रथ के लिए
पगवाट है पग के लिए
सब मार्ग की अपनी दिशा, अपने क्षितिज
हम क्या करें?

आग्रह करो मत, इस तुम्हारे मार्ग को ही मान ले भगवान—
(यह) जन यहाँ से अलग होता है
(पर) पथ यहाँ से अलग होता है।''

'काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व' हो, उनके काव्य में उत्सव भाव हो, आरण्यक या उपनिषदीय चेतना हो, काव्य में बार-बार, ''प्रार्थना'', ''धर्म'', ''गायत्री'' भागवत कथा'', ''स्तोत्र'', ''कीर्तन'', ''मंत्र'', ''यज्ञ'', ''महाआकाश'', ''पराआकाश'', ''लीलागान'', ''रास'' जैसे शब्दों की आवृत्तियों से आलोचकों और पाठकों को बड़ी असुविधा होती रही है। यह इस वजह से भी हुआ कि नरेश जी काल को उसकी निरन्तरता में देखते हैं जब कि हम सामान्यत: अपने समय की तात्कालिकता में उसकी प्रामाणिकता खोजते और उसे अर्थ देने के अभ्यस्त हैं।इसलिए हमारा अभी-अभी का गुज़रा समय भी हमारे लिए अतीत हो जाता है और हम अतीत जीवी होना नहीं चाहते। नरेश जी की यह दृष्टि आधुनिकता का नकार नहीं है पर यह उस दृष्टि का प्रतिरोध है जो अपनी परम्परा को जड़ और रूढ़ि मानकर उसका सिरे से निषेध करती है। नरेश जी जिस भूमि पर खड़े हो कर अपने समय और घटनाओं को देख रहे थे और ''अन्य'' जहाँ उसका फर्क तो है ही पर उससे अधिक उस ''राजनीति'' का हाथ भी कम नहीं है जिसने नरेश जी की कवि दृष्टि और उनके सर्जनात्मक व्यक्तित्व को कभी स्वीकृति नहीं दी। जिस वैष्णव भाव को उनकी ''धर्म दृष्टि'' माना गया वह साम्प्रदायिक नहीं है अधिक विस्तार में न जाकर हम इतना ही कहेंगे कि उनकी यह **'धर्म दृष्टि'** या काव्य दृष्टि-''वैष्णव जन तो तेणे कहिए जे पीर पराई जाणे रे'' से सम्पन्न थी-उदार और मानवीय।

वे मानते थे कि यह सम्पूर्ण सृष्टि, आकाश, महाआकाश और पराआकाशों की कालबद्ध और कालातीत हर घटना, अघटना, गतियाँ, गोचर और अगोचर, ज्ञात और अज्ञात, जड़ और चेतन की समस्त स्थितियाँ, शक्ति और परिणाम-दुष्परिणाम सब कुछ काव्यात्मक है अर्थात काव्यात्मकता से परे कुछ भी नहीं है। चूँकि मनुष्य भी इस विराट् प्रकृति का ही एक अंश है इसलिए वह उस काव्यात्मकता का भी अंश है। अन्तर केवल इतना ही है कि वह स्वयं काव्य भी है और साथ ही साथ इस काव्यात्मकता का प्रस्तोता भी है। वह पहले इसे ग्रहण करता है फिर व्यक्त भी करता है। सम्पूर्ण सृष्टि में यह क्षमता केवल मनुष्य के पास है, इसलिए वह अद्वितीय भी है।

यों मनुष्य भी सृष्टि के शेष प्राणियों की तरह ही एक प्राणी है पर केवल मनुष्य में ही यह क्षमता है कि अपनी आदिम स्थिति से चल आज के सभ्य मनुष्य की स्थिति तक पहुँच सका और उसकी विकास यात्रा आज भी जारी है। शेष प्राणी का विकास तो एक स्थिति पर आकर थम गया। श्रेष्ठता का एक आधार भौतिक उपलब्धियाँ और प्रकृति पर उसका एकाधिकार है पर यह आधार मनुष्य को अन्धी स्पर्धा के लिए उकसाता है और मनुष्य मनुष्य का शत्रु हो जाता है। इतिहास साक्षी है कि इस स्पर्धा और वर्चस्व में मनुष्य कितना अमानवीय हो गया। इतिहास ही क्यों, हमारा समय क्या इसका साक्ष्य नहीं है? दूसरा आधार है मनुष्य की वह ऊर्ध्व यात्रा जिसमें मनुष्य अपनी मनुष्यता को अर्जित करता है। प्रकृति से उसकी सहभागिता होती है। इस यात्रा में स्पर्धा नहीं है, वह मनुष्य

के बीच की अभेद स्थिति है। नरेश जी के शब्दों में कहा जाए तो—"काव्यात्मकता इस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है।" इसीलिए श्री नरेश मेहता का सारा सोच और चिन्ता काव्य से आरम्भ होकर मनुष्य पर आकर टिक जाती है। वे "आग्रही" नहीं है पर उनके सत्याग्रह को ही आग्रह मान लिया गया है। हाँ, यदि रूढ़ भाषा और और भाषिक मुहावरे को ही समकालीनता का पर्याय माना जाए, जैसा कि लगभग मान लिया गया है, तब नरेश जी और उनका सृजन अवश्य हमारी तात्कालिता से भिन्न ही नहीं दूर का भी माना जाएगा। पर वे यही मानते रहे कि

"किसी का हो अश्रु
मेरा बने
सब मुझे अपनी पराजय सौंप
सुखी हो जाएँ
जब तक रहूँ
समर्पित रहूँ
केवल अन्य को।"

सृजन नरेश जी का राजनीतिक अजेण्डा कभी नहीं रहा। तब भी नहीं जब वे राजनीतिक विचारधारा से प्रतिबद्ध और राजनीतिक दल में सक्रिय रहे। "दूसरा सप्तक" में संकलित उनकी कविताएँ इसका प्रमाण हैं। ऐसा भी नहीं कि उन्होंने अपनी काव्य-यात्रा के लिए सर्वथा नई राह बनाई या चुनी। हाँ, आधुनिकता के आग्रह और अतिरेक में हमारी अपनी जो राह थी उस पर अब कोई चलता नजर नहीं आ रहा था। नए राजमार्ग निर्मित हो गए थे। जिन पर भीड़ थी, कोलाहल था। मार्ग आसान था, लक्ष्य स्पष्ट थे और बहुत कुछ सुनिश्चित था। जबकि जो पुरानी राह थी, उसके तो निशान भी लगभग मिट गए थे। उस पर कोई नजर नहीं आ रहा था। राह ही मिट चुकी थी तो भटकने के खतरे भी थे। बस एक संकल्प था, अपने पर भरोसा था और इसी बूते पर अकेले नरेशजी चल पड़े, आजीवन चलते रहे। चुनौतियों को स्वीकार किया। बाधाओं से विचलित नहीं हुए—

"(यह) जन यहाँ से अलग होता है
(पर) पथ यहाँ से अलग होता है।"

मुक्तिबोध ने भी तो लिखा है—

"अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे।
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब
पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार
तब कहीं देखने को मिलेगी बाहें
जिनमें कि प्रतिपल काँपता रहता
अरुण कमल एक
ले जाने उसको धँसना ही होगा
झील के हिम शीत जल में।"

सच उस —"अरुण कमल" को ले जाने के लिए झुलसने की बिना परवाह किए अपने समय की दावाग्नि से भी गुजरना होता है तो रक्त देने वाले हिमशीत जल में भी धँसना पड़ता है। सबने अपनी-अपनी तरह की कोशिश की। स्व. श्री नरेश मेहता ने भी अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाते हुए अपने ढंग से कोशिश की।

—"सीढ़ियाँ तो
केवल खड़े होनें के लिए होती हैं
जबकि अवगाहन
सीढ़ीहीन सम्पूर्ण समर्पण माँगता है।"

नरेश जी के यहाँ यथार्थ का सर्वथा निषेध भी नहीं है। जीवन और प्रकृति के रहस्यों का प्रवेश द्वार जहाँ खुलता है जिससे होकर वे इतिहास के हाहाकारों के सम्मुख होते हैं तो वे जीवन की रम्यताओं के भी। इस यात्रा में निजी और जातीय स्मृतियाँ बराबर उनके साथ होती हैं। इसे चाहें तो यथार्थ का रहस्य में हस्तक्षेप भी कह सकते हैं और रहस्य का जीवन के यथार्थ में भी।

"पिछले दिनों, नंगे पैरों
किलों, महलों, बारादरियों में चलते हुए भी
दिख जाता रहा बार-बार
आकाश—
या उसका कोई टुकड़ा
नीली सुगन्ध देता यहाँ वहाँ ।
छूती रही धूप
झँझरिया में टूटी-टूटी
ये मेहराबें लिखती
दालानों में खिली, बिछी
घेरे रही।"

"पिछले दिनों, नंगे पैरों" की सारी कविताएँ मध्य युगीन इतिहास की बर्बरताओं का सर्जनात्मक दस्तावेज है। नरेश जी इतिहास की क्रूरता को सिरजते हुए अपने सारे आभिजात्य और भाषिक औदात्य को स्वयं तार-तार करते हैं। इतिहास किसी भी युग का हो, चाहे वह हमारे समय में घटित हुआ भी क्यों न हो, ऐसा ही क्रूर, बर्बर और अमानवीय होता है। इसीलिए वे इतिहास के सम्मुख प्रतिइतिहास नहीं रखते। प्रति इतिहास से प्रति बर्बरता का ही जन्म होता है। इसलिए वे इतिहास की सारी बर्बरता का प्रतिकार प्रार्थना से करते हैं। गाँधी— हमारे देखे समय की निर्भय प्रार्थना हैं जिसके सम्मुख साम्राज्यवाद ने घुटने टेक दिए थे। हम गौर करें तो पाएंगे कि इतिहास के गहरे, अन्धेरे, कातर चीत्कार और थरथराहटों के बीच में कहीं-कहीं संघों-सुराखों से आती धूप के बिछे टुकड़े, कहीं-कहीं अचानक दिखाई पड़ता आकाश नीली सुगन्ध देता, सदियों पुरानी बावड़ियों में अभी भी इकट्ठा ठण्डा मीठा और जीवित पानी उस आतंक और घुटन में कभी-कभी मिल जाते ताजा हवा के झोंके ही मनुष्य को इतिहास की सारी बर्बरताओं में

भी बनाए और बचाए रख सके। हमारे मध्य युग के क्रूर और काले इतिहास में नानक, तुकाराम, कबीर, जायसी, रामदास, सूर, तुलसी, मीरा, शेख फरीद और ऐसे ही कितने संत, भक्त और कवि अन्धेरे में खुलती खिड़कियाँ थीं जिनमें धूप और हवा आती रही, आकाश दिखता रहा। ये उस इतिहास में पानी के जीवित स्रोत थे जिनके साथ तब के मनुष्य सारी बर्बरता को न केवल झेल गए बल्कि अपनी रीढ़, सीधी करके खड़े हो सके। इतिहास के तेग की धार इनके शब्दों के सामने थोथरी सिद्ध हो गई। इनकी वाणी ने सामान्य जन को आत्मबल दिया। निर्भयता प्रदान की। ये साधु फकीर, दरवेश और अवधूत तब सामान्य जन के मनोराज्य के सच्चे बादशाह बन गए थे। ये कवि सन्त केवल कविता नहीं करते थे अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह भी करते थे। इसीलिए इनके शब्दों का गहरा असर था।

समय बदल जाता है, इतिहास के पात्र बदल जाते हैं पर इतिहास की प्रकृति नहीं बदलती है। विचार किया जाना चाहिए कि आज के परिवेश में फिर वैसे ही प्रखर और असरदार शब्दों की क्या जरूरत नहीं है। ऐसे शब्दों की भी जो सारे राजनीतिक और साम्प्रदायिक उन्माद का कारगर प्रतिरोध बने? ऐसे शब्द व्यवस्था से जागीर और शिरोपाव प्राप्त करने वालों के शब्द नहीं हो सकते। वह भाषा, विरोध करने की भाषा नहीं हो सकती है। न ही वह कविता दैन्य और पराजय बोध की कविता होगी। हमारे समय के अनुरूप यह कविता कबीर, मीरा जैसी होगी, सूर-तुलसी जैसी होगी जिसमें मनुष्य को बचाने का संकल्प होगा और जो मनुष्य की शक्ति सिद्ध होगी। नरेश जी का सारा सर्जनात्मक प्रयत्न भी अपने समय से पलायन नहीं, इसका प्रतिरोध है। आज भी खिड़कियाँ तो हैं पर उन्हें खोलना तो मनुष्य को ही है। मनुष्य को अर्थात हमें और यह तभी सम्भव है जब हम भी यह मानें—

"शाह के न राजा के
किसी के नहीं चौबदार
अलख बादशाहत का भेद मत देना
अवधू! भेद मत देना।"

ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब शब्द, सर्जक के व्यक्तित्व का परिचायक बने और सर्जक अपनी जमीन की उपज।

मन्वन्तर
२०५, सेठी नगर
उज्जैन-४५६०१०



नरेश जी की कविता में भावातीतता

● श्री कैलाश चन्द्र पन्त

किसी कवि के बहिरंग और अन्तरंग में प्रवेश के बाद ही उसके व्यक्तित्व का समग्र आकलन संभव है। खास तौर पर ऐसा रचनाकार जो अपने समय का अतिक्रमण करता है और अपने कवि होने को प्रस्तोता होने के अर्थ में ही निरूपित करता हो। क्योंकि उसकी मान्यता रही कि कविता, सर्वत्र तथा सार्वकालिक भाव से नित्य उपस्थित है। सृष्टि के विभिन्न आयामों में नित्यता का ऐसा अनुभव हमें केवल भक्तिकालीन कवियों में ही दिखाई देता है। सृष्टि के राग में स्वयं को लय कर देने से प्राप्त अनुभवों को कविता में उतार देने वाले श्री नरेश मेहता की कविताओं का आस्वादन भाव-भूमि के उसी स्तर पर पहुँच कर पाना संभव होगा। सृजन के लिए जिस कवि का अहं एक विराट फलक तक विस्तार पाना चाहता है, उसकी सर्जना से एकाकार होना तभी संभव है जब पाठक भी अपने अहं का विस्तार करे। सृजन का अर्थ अहं का विस्फोट है, प्रकटीकरण है। स्वयं नरेश जी ने स्वीकार किया है—

"अहं स्वत्व का ही एक पर्याय है और स्वत्व रचना मात्र के लिए आवश्यक होता है। रचना का स्वत्व वस्तुत: रचयिता का ही स्वत्व होता है। अत: सृजन के लिये अहं एक अनिवार्यता है।" यहाँ यह समझना जरूरी है कि दर्शन में जो 'आत्म' है, वही कविता में अहं है। आत्म को पाने के लिए ऋषि जो मुद्रा धारण कर शून्य तक पहुँचता है, अहं को अभिव्यक्ति देने वाला कवि उसे शब्द देता है। तपस्या दोनों ही करते हैं।

कविता में तात्कालिकता और सर्वकालिकता की पहिचान उसमें व्यक्त संचित अनुभवों के मंथन से प्रसूत भावाभिव्यक्ति से होती है। नरेश जी तात्कालिकता की सीमाओं को पहिचान सके और समूचे ब्रह्माण्ड को अपने दृष्टि फलक में ले सके। समकालीनता के दबावों को दर किनार करते हुए काल के प्रवाह की निरन्तरता को आत्मसात करते हुए वे लिख सके—

मनुष्य होने का अर्थ ही है
एक उत्सव
एक रास का आरात्रिक संपन्न होना
मनुष्य का रास-पुरुष ही
देश और काल में यात्रा कर रहा है ।

स्पष्ट है कि नरेश जी ने पदार्थ से, पार्थिवता से आगे जाकर सनातन सत्य से साक्षात्कार कर लिया था। इसीलिये वे समकालीन आग्रहों से मुक्त होकर अलग राह बनाने की उद्घोषणा कर सके—

आग्रह करो मत
इस तुम्हारे द्वार को ही मान लें भगवान
यह जन यहाँ से अलग होता है
पथ यहाँ से अलग होता है ।

श्री नरेश मेहता का पथ से अलग होकर काव्य यात्रा पर निकल पड़ना उन्हें हिन्दी के अन्य कवियों से अलग खड़ा करता है। इस अलगाव से वे हिन्दी कविता की रिक्तता को भर सके। लेकिन इसी कारण तात्कालिकता की आग्रही हिन्दी आलोचना अपने दारिद्रय को दूर करने में असमर्थ रही। वैष्णवी कविता कहकर नरेश जी की कविताओं की उपेक्षा करने वाले उस वैष्णवता को कैसे समझते जो 'व्यक्ति– समर्पण की निष्णात प्रतिश्रुति है।' एकान्त सान्निध्य की तुष्टि के लिए नरेश जी की वैष्णवता सब कुछ का परित्याग करने को लालायित है। नरेश जी के व्यक्तित्व को उनकी कविताओं के माध्यम से ही समझा जा सकता है। जब समकालीनता से अलग राह बनाने के लिये कविता ने मार्ग चुना तो उसकी प्रार्थना है—

ओ मेरे दाता !
दी है फकीरी तो देना संकल्प भी।

यह संकल्प नरेश जी ने जीवन पर्यन्त निभाया। फकीरी में जीकर भी कुण्ठा और कलुष से अपने कवि-मन को सर्वथा अप्रभावित रखा। निन्दा और स्तुति के प्रति उनकी तटस्थता देखकर नरेश जी में जिस स्थित–प्रज्ञता के दर्शन होते थे उनसे उनका मनीषी-व्यक्तित्व अधिक निखार पाता था।

तेलुगु के प्रसिद्ध कवि शेषेन्द्र शर्मा ने उत्सवा की भूमिका में लिखा है—"नरेश जी के काव्य का वैशिष्ट्य इस तथ्य में निहित है कि वह पाठक को समर्पण की कला में दीक्षित करता है, और इसके लिये जिस रचनात्मक अदभुत शक्ति का प्रयोग किया जाता है उसका स्रोत भी स्वयं कवि में ही है—

मैं अपनी आयु की वानस्पतिक गंध
फूल को सौंप देना चाहता हूँ
ताकि वह
मेरे पुण्यों की मयूरपंखी उत्सवता बन
सूर्य के धूप-मुकुट की
जयकार बने।

कवि के इस समर्पण के साथ रागात्मक संबंध स्थापित किये बिना उस वैश्विक

चेतना को कैसे समझा जा सकता है, जो कवि के रचना-संसार का निकष है। कहा जा सकता है कि आत्म साक्षात्कार से प्रसूत रचनाओं को समझने के लिए स्वयं को अहं का विस्तार कर रचनाकार की भावभूमि तक उठना पड़ता है। स्वयं नरेश जी का मत है— "रचना की उदात्तता से तात्पर्य है कि वह केवल अपने सृष्टा, रचयिता की गरिमा, महत्ता का ही बोध न करवाए, बल्कि पाठक की गरिमा तथा स्वत्व को भी संबोधित, जाग्रत तथा उदात्त करे। यह नहीं हो सकता कि रचना अपने रचयिता के प्रति तो प्रतिश्रुत हो और पाठक की अवहेलना करे। सृजन के समय रचना और रचयिता में जो सृजनात्मक समरसता थी वैसी ही एकात्मता उसके पाठ के समय रचना और पाठक में भी अनिवार्य है।" सचमुच इस एकात्मता के बिना नरेश जी की कविताओं में प्रवेश संभव नहीं है। रचना उसी समय होती है जब रचनाकार एक विशिष्ट भावभूमि में समाधिस्थ होता है। नरेश जी के अनुसार जिसे कवि कहा जाता है वह तो मात्र प्रस्तोता होता है, वह इसलिये कि कवि नहीं बल्कि उसका मनीषी व्यक्तित्व या चैत्य " पुरुष उस काव्य" साक्षात का अनुभवकर्त्ता या दृष्टा था। कवि को ऋषि के स्तर पर रखने वाले नरेश जी एक मनीषी कवि के रूप में ही हिन्दी में प्रतिष्ठित स्थान के अधिकारी बन सके। उन्होंने लिखा—

अर्थ तो शब्द का होता है
और कविता में
शब्द—
सरोवर में डूबी सीढ़ी है
जहाँ हम समाप्त होते हैं
और सरोवर आरंभ होता है।
सीढ़ियाँ तो
केवल खड़े होने के लिए होती हैं
जबकि अवगाहन
सीढ़ी हीन सम्पूर्ण समर्पण मांगता है
इसलिए
शब्द पर जाकर खड़े मत रहो
शब्द का
उल्लंघन ही कविता है।

श्री नरेश मेहता के कवि-व्यक्तित्व को समझने के लिये उनके जीवन-संघर्ष को देखना होगा। उनके व्यक्तित्व के निर्माण में इस संघर्ष का ही योगदान है। संघर्ष भी साधारण नहीं—ऐसा विकट कि उन्हें विद्रोही बना सकता था, सामाजिक व्यवस्था के प्रति गहरा रोष पैदा कर सकता था। नरेश जी की रचनाओं में ध्वंस का विद्रोह का स्वर कहीं नहीं मिलता, बावजूद इस सचाई के कि वे प्रगतिशील आन्दोलन में सक्रिय रहे,

कम्युनिस्ट विचारधारा के ध्वजवाहक भी बने। इसके विपरीत पीड़ाओं की कुंठाओं से अपने कवि मन को अप्रभावित रखने में सफल हो सके। उदात्तता का चरमोत्कर्ष इन पंक्तियों में दृष्टव्य है—

कभी अपनी वैयक्तिकता को
इतनी विशाल स्वर लिपि में बजने दो बंधु
और देखो कि इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए
कैसा अनुष्ठान सम्पन्न हो रहा है।

यह अनुष्ठान, कुंठित मन से, वैयक्तिक पीड़ाओं के झंझावत में घिरे रहकर संभव नहीं होता। मन का उदात्त होना कैसे संभव होता है और जीवन में तप को कैसे साधा जाता है जो कवि को ऋषि तुल्य बना देता है यह नरेश जी के जीवन में झाँककर ही स्पष्ट हो पाता है।

रचनाधर्मिता के प्रति अपनी प्रतिबद्धता के लिये आर्थिक कष्टों को स्वयं आमंत्रित कर अनुभव संसार को व्यापक फलक देने की कोशिश क्या उस सिद्धार्थ का स्मरण नहीं कराती जो राजसी ऐश्वर्य को त्यागकर बोधि- वृक्ष के नीचे तपस्या लीन हो गया था। यह मात्र संयोग ही नहीं था कि नरेश जी ने अपने युवाकाल में बौद्ध भिक्षु का बानक भी धारण किया था। रेडियो की अच्छी नौकरी इसलिये छोड़ी कि कम्युनिस्ट पार्टी से संबंध विच्छेद करने का सरकारी दबाव डाला गया जो उन्हें स्वीकार नहीं हुआ। और कम्युनिस्ट पार्टी से संबंध विच्छेद करने में तनिक देर नहीं की जब उनका कवि मन एक आलोकित क्षितिज को आत्मसात करने के लिये छटपटा उठा। कवि नरेश मेहता की सांस्कृतिक यात्रा की महत्त्वपूर्ण शुरूआत की यह कहानी उनके विराट से विराटतर में रूपान्तरित होते जाने की कथा है। उस भावभूमि पर खड़े होकर वे लिखते हैं:—

"साहित्य मनुष्य के व्यापक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। क्या यथार्थ को देखने की एकमात्र दृष्टि राजनीति ही है। क्या भारतीय साहित्य उस अर्थ में कलावादी है जिस अर्थ में पश्चिम में देखा गया। अथवा उसमें जीवन के सभी क्षेत्रों की समाहारक समग्रता दिखाई देती है।"

"काव्य से जीवन को हमेशा ही कहीं ज्यादा अपेक्षा रही है। सुदूर अतीत में न भी जायं तो भी हम मध्यकाल के भक्ति काव्य को क्या साहित्य की सीमित परिधि में बाँध सकते हैं? जैसे महाभारत सारी भारतीयता का पर्याय है, काव्य होना उसका प्रयोजन नहीं है। जैसे मनुष्य का देशव्यापी संज्ञा विशेषण होना प्रयोजन नहीं है, बल्कि मनुष्य का मनुष्यत्व उसका प्रयोजन है। इसी प्रकार रामायण या महाभारत आदि हमें मनुष्य बनाने वाले प्रयोजन ग्रंथ हैं।"

भारतीय संस्कृति की यह पहिचान और परख ही नरेश जी को और उनके काव्य को असाधारणता प्रदान करती है। यह असाधारणता उनके कवि व्यक्तित्व का ऐसा पक्ष है,

जिसमें दीर्घ साधना और अपनी संस्कृति में डूबने-उतराने की तपस्या अपेक्षित है। संस्कृति के मूल्यों के साथ ही उसमें समाविष्ट विकृतियों की पहिचान करना और आधुनिकता के धरातल पर खड़े होकर उनका मूल्यांकन करना साधारण मेधा से संभव नहीं होता। इस संबंध में डॉ. रामकमल राय की यह टिप्पणी समीचीन है—

"प्रकृति के झरोखे से संस्कृति की पहिचान और शोध की जो प्रक्रिया नरेश जी के कवि व्यक्तित्व में आज से तीस वर्ष से भी अधिक पहले प्रारंभ हुई थी, समस्त आर्ष साहित्य के मंथन और चिंतन के बीच से गुजरती हुई आज अपनी उत्सवा भूमि पर प्रतिष्ठित है। आज भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठतम गायकों में नरेश जी का नाम लिया जा सकता है।" अपनी संस्कृति में गहरी पैठ से उत्प्रेरित नरेश मेहता का कवि लिख सका—

"यदि मानवीय प्रश्नों का उत्तर मात्र
युद्ध है/खड्ग है/ तो—
लो समर्पित हैं तुम्हें
तुम्हारे अज्ञात जलों को,
इस क्षण के द्वारा
वृष्टि भीगे उस महाकाल को
समर्पित है यह
धनुष, बाण, खड्ग और शिरस्त्राण।
मुझे ऐसी जय नहीं चाहिए,
वाणविद्ध पाखी सा विवश
साम्राज्य नहीं चाहिए,
मानव के रक्त पर पग धरती आती
सीता भी नहीं चाहिए
सीता भी नहीं।"

हमारी संस्कृति के सम्पूर्ण प्रतीक राम को लेकर उनके मन के संशय को वैष्णव कहा जाने वाला कवि किस मानवीय गरिमा से आवेष्ठित कर देता है। पुरातन और आधुनिकता का यह सामंजस्य क्या आज हमारे बीच उपस्थित ज्वलन्त प्रश्न को पूरी शक्ति के साथ प्रस्तुत नहीं कर देता? 'महाप्रस्थान' में तो उनका आधुनिकता-बोध कवि के चिन्तन की गहराई को प्रतिबिंबित करने वाला है। युधिष्ठिर कहता है—

राज्य व्यवस्था की नींव में
कराहते मनुष्य का होना
एक अनिवार्यता है अर्जुन!

यह कराहने की विवशता ही पूरी व्यवस्था पर प्रश्नवाचक लगा देती है। लेकिन राज्य व्यवस्था में परिवर्तन तभी संभव है जब व्यक्ति की अस्मिता की रक्षा के लिए

कटिबद्ध हों। व्यक्ति और समाज के संबंधों का विश्लेषण पहली बाद नरेश जी कर रहे हों, ऐसी बात नहीं। लेकिन कवि की सांस्कृतिक दृष्टि व्यष्टि और समष्टि में समन्वय स्थापित करने का काव्यात्मक मर्म प्रस्तुत करती है—

'और व्यक्ति के फूलत्व को कुचल दोगे
तो वन
गन्ध मादन कैसे बन पायेगा पार्थ?
फूल का एकाकीपन
अरण्य की सामुहिकता की शोभा है
विरोधी नहीं।''

नरेश जी के पूरे रचना संसार में समन्वय की यह दृष्टि प्रतिबिम्बित है। अद्वैत के मुखर भाव से साक्षात्कार के लिये आवश्यक भावभूमि के अभाव में उनकी कविताओं में संचरण संभव नहीं । मैं पुन: डॉ. रामकमल राय के शब्दों को उद्धृत करना चाहता हूँ जो नरेश जी के कवि व्यक्तित्व का सटीक निरूपण करते हैं—''उनकी सर्जना उपदेशात्मक नहीं है। वह हमें भीतर के प्रकाश से साक्षात्कार कराती है। यही उसकी सिद्धि है।'' नरेश जी की यह सिद्धि उनके कवि की घोर तपस्या का परिणाम है।

इसी बिन्दु पर श्री नरेश मेहता की कविताओं को आधुनिकता की आग्रही आलोचना खारिज करने की कोशिश करती है। आखिर यह आधुनिकता है क्या? बीसवीं सदी में हुई वैज्ञानिक एवं भौतिक प्रगति के साथ महायुद्धों की विनाश लीला और उसके बाद पूँजीवादी स्पर्द्धाओं ने व्यक्ति के जीवन में जिस कुण्ठा और एकाकीपन को पनपाया है उन मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति को ही बौद्धिक आधुनिकता मान लिया गया है। वस्तुत: यह तात्कालिकता है। ऐसे बुद्धिजीवी जीवन को काल की भ्रान्त परिधि में आबद्ध कर देते हैं। याद आता है नरेश जी का वह अंतिम व्याख्यान, जो इसी इलाहाबाद के संग्रहालय में दिया गया था। उनकी दो टूक राय थी—''व्यक्ति स्वातंत्र्य के नाम पर, आधुनिक मुहावरे बाजी के नाम पर, अन्तर्राष्ट्रीय काव्य दृष्टि के विकास के नाम पर जितना और जैसा लिखा जा रहा है उससे हम सब अवगत हैं। वैसे ये सारी बातें सही हो सकती हैं, और शायद हैं भी पर जिस परिपक्व भूमि पर खड़े होकर इनके अनुकूल लिखा जाना चाहिये वह समझ और मेधा नहीं है। हमने प्राचीनता को यदि पूर्वग्रह बना रखा है तो प्रगतिशीलता या आधुनिकता की संकीर्णता भी हमें उन्मुक्त नहीं सोचने दे रही है। हमें क्यों और किस बात का संकोच है कि यदि हम तार्किकता से सोचे-समझेंगे तो 'सार-सार को गहि रहे, थोथा देइ उड़ा'—वस्तुत: एक सर्जक किसी भी कारण से किसी भी चीज से मोह नहीं कर सकता। उसके विरुद्ध निर्मोह भी धर्म है।'' इसी बात को नरेश जी ने ज्यादा स्पष्टता देते हुए कहा—''भूगोल और इतिहास के इतने विशाल फलक पर हमें अपनी सामाजिक, धार्मिक और सर्जनात्मक प्रकृति और संभावना की यथासंभव पड़ताल करनी

चाहिये तभी हम अपने स्वत्व और अस्मिता के अक्षांश-देशांतर की सही स्थिति को जान सकेंगे। और तभी हम अपनी आधुनिकता की संभावना को शायद संभावित कर सकें।'' संप्रदाय-निष्ठा में आबद्ध आधुनिकता का अतिक्रमण करने वाला कवि ही सर्वथा भिन्न भूमि पर खड़ा होकर लिख सकता है—

अपने में से फूल को जन्म देना
कितना उदात्त होता है
यह केवल वृक्ष जानता है,
और फल
वह तो जन्म-जन्मान्तरों के पुण्यों का फल है।

यही है कवि और कविता के स्वत्व का विस्तार, जो सारी आधुनिकता से उपजती बौद्धिक चुनौतियों का उत्तर देता है। मनुष्य के या व्यक्ति के स्वत्व की रक्षा सबसे ज्वलन्त चुनौती है जिसे पश्चिम की भ्रान्त दृष्टि से देखना एकांगी है, इसीलियें खतरनाक भी? नरेश जी मानते हैं कि कविता का अर्थ भी कविता से पृथक नहीं होता। कविता स्वयं अपना अर्थ उसी प्रकार है जिस प्रकार फूल अपना भी अर्थ होता है। जब फूल हममें प्रतिफूल उत्पन्न कर देता है तब न केवल उसके प्रयोजन की पूर्ति हो जाती है बल्कि वह अर्थवान भी हो जाता है। क्योंकि फूल एक शब्द ही नहीं, सम्पूर्ण भाषा है।

कहा जा सकता है कि एक कवि के रूप में नरेश जी ने भावातीतता को प्राप्त कर लिया था। उनकी कविताओं में राग भी है, समर्पण भी है। यह राग और यह समर्पण किसी दीर्घ साधना की ही फलश्रुति होते हैं। तेलुगु कवि शेषेन्द्र शर्मा ने उत्सवा की भूमिका में इन दोनों तत्वों को रेखांकित करते हुए पॉल क्लाडेल की पंक्तियों का उल्लेख किया है— ''ओ मेरी संवेदनशील जड़–देह। अपने को मोड़ो, ऐंठो, फिर सीधी हो जाओ। टूटने की कोई शिकायत न करते हुए हवाओं को वाणी दो, जिसे वे तुम्हारे टूट उठने में देख रही हैं।'' भूमि को गायत्री देखना, दूर्वा को अनुष्टुप स्वीकार करना पेड़ को वानस्पतिक श्लोक मानना, अपने स्वत्व में कृष्ण गंध की प्रतीति करना और इन सबसे आगे जाकर यह कह उठना कि—

धरती को कहीं से छुओ
एक ऋचा की प्रतीति होती है ।
देवदारूओं की देह-यष्टि
क्या उपनिषदीय नहीं लगती ?

कवि की भावातीत स्थिति का एहसास कराते हैं। वेदों, उपनिषदों, पुराणों की कवि ने साधारणीकृत व्याख्या कर क्या अलौकिकता को लौकिक बना देने का सामर्थ्य प्रदर्शित नहीं किया? इसके साथ ही उनके कवि अहं का विस्तार समर्पण के लिये उतना ही व्याकुल भी है—

समर्पण में
क्यों नहीं व्यक्तित्व मेरा नदी नहीं बनता?
यह व्याकुलता बार-बार कवि को उद्वेलित करती है—
मेरा यह कैसा अकेलापन
जो इस वैश्विक—उत्सवता, से वंचित है।

नरेश जी की कविता हमें जाति की समग्र सत्ता में साक्षात्कार कराती है। वे व्यक्तिगत आकांक्षों से ही मुक्त नहीं दिखाई देते प्रत्युत जातीय कामनाओं से भी निर्द्वन्द्व होकर अपने पाठकों को प्रकृति का, सृष्टि का सहचर बनने का अवसर भी उपलब्ध कराते हैं। वे पाठक को भी समर्पण की कला में दीक्षित करते चलते हैं—

मैं अपनी आयु की वानस्पतिक गंध
फूल को सौंप देना चाहता हूँ
ताकि वह
मेरे पुण्यों की मयूरपंखी—उत्सवता बन
सूर्य के धूप मुकुट की
जयकार बने ।

और फूल का फल में परावर्तन तो जन्म जन्मान्तरों के पुण्यों से ही संभव होता है।

आधुनिकतावादी दृष्टि जिस यथार्थ को टटोलती है उसे किस विराट स्तर पर नरेश मेहता प्रतिष्ठित कर देते हैं यह निम्न पंक्तियों से समझा जा सकता है—

चन्दन देह-यष्टि सा झाँकता हुआ
हमारा किशमिशी रोज का सादा सा दिन
खेतों में
कंडे पाथते हुए कैसा उत्सव लगता है
चन्दन की मुठिया से लेकर गोबर के कण्डों तक
यह जीवन की कैसी गान्धर्व-वीणा बज रही है।
हमारे लिए मनुष्य मात्र
हमारे लिये गंध मात्र
हमारे लिए रंग मात्र
वेद-पाठ है
यज्ञ- ध्वनि है
उत्सव- गान है
कभी अपनी वैयक्तिकता को
इतना विशाल स्वर- लिपि में बजने दो बंधु !

नरेश जी एक दृष्टि से संपन्न कवि थे। उनका कवि व्यक्तित्व साधना के ऐसे शिखर

पर खड़ा था जहाँ से वे काल के सतत प्रवाह को देख सके, उस प्रवाह में योगदान देते नक्षत्रों से लेकर नदियों तक और वनस्पतियों से लेकर मनुष्यों तक की शाश्वत भूमिका को समझ सके। इस कवि-मनीषी व्यक्तित्व को श्रीमती महिमा मेहता से अच्छा कौन निरूपित कर सकता है। उन्होंने लिखा—

"ऐसा लगता था जैसे उनके आस-पास काव्य का सागर हिलोरें भर रहा है और वे उसमें डूब उतरा रहे हैं, आनन्दित हो रहे हैं। उस डूब से बाहर आने में उन्हें बहुत कष्ट होता था।" समाधि से लौटना किसी भी योगी के लिये बहुत कष्टप्रद होता है। परन्तु जो उस कष्ट को उठा पाता है वही मनुष्य के कल्याण की राह सुझा पाता है। कवि नरेश मेहता की काव्य साधना में भावातीतता का यह तत्व उन्हें वरेण्य इसीलिये बनाता है कि भौतिक आंकाक्षों से उपजी हताशा, कुण्ठा और एकाकीपन से संत्रस्त मनुष्यता को जीवन सँवारने की नई दृष्टि भी देता है।

हिन्दी भवन
श्यामला हिल्स
भोपाल-४७२००२



नरेश मेहता : उदात्तता का सृजन

• राम कमल राय

सन् ५२ में इण्टर साइन्स की परीक्षा के थोड़े ही दिनों पूर्व 'दूसरा सप्तक' पढ़ने को मिला था। कविता-कहानियों का प्रेमी तो था ही, परन्तु उसमें भी जो अभी लिखा जा रहा था, उससे अधिक सरोकार रहता था। तुरन्त लिखी जाने वाली रचनाएँ मेरे भीतर बजने लगती थीं। 'सप्तक' के कवियों से गुजरते हुए जब श्री नरेश कुमार मेहता (हाँ, 'कुमार' अब छँट चुका है) तक पहुँचा तो वक्तव्य ही काफी झकझोरने वाला लगा। एक अजीब आत्म– गर्व उससे छानकर पाठक को संवेदित करता है। गर्व की संवेदना के साथ ३६ से ५० तक लिखते हुए भी अनाम रहने का दर्द और उसके साथ ही यह विश्वास, भी कि संस्कृति का शोध भी इन्हीं महोदय को करना है, उपन्यास को 'गोदान' और 'शेखर' से आगे भी इन्हें ही ले जाना है, कविता को छायावाद और प्रगतिवाद के द्वन्द्व से निकालकार नई भूमि पर प्रतिष्ठित करने वालों को शक्ति भी इन्हें ही देनी है। वक्तव्य छोटा-सा था, परन्तु नोक और धार उसमें तीखी थीं। वक्तव्य ने जो उत्कण्ठा जगाई उसके साथ ही कविताएँ पढ़नी शुरू की। पहली कविता 'चाहता मन' मेरे अन्दर ताजगी का एक झोंका भर गई। तभी से ये पंक्तियाँ मुझे आज तक अच्छी लगती हैं—

"तुम यहाँ बैठी हुई थीं अभी उस दिन।
सेब-सी बन लाल
चिकने चीड़-सी बाँह अपनी टेक पृथ्वी पर यहाँ –
इस पेड़-जड़ पर बैठ,
मेरी राह में इस धूप में।
बह गया वह नीर,
जिसको पदों से तुमने छुआ था।
कौन जाने धूप उस दिन की कहाँ है,
जो तुम्हारे कुन्तलों में गरम,
फूली, धुली घौली, लग रही थी।
चाहता मन
तुम यहाँ बैठी रहो,
उड़ता रहे चिड़ियों सरीखा

वह तुम्हारा श्वेत आंचल
किन्तु अब तो ग्रीष्म
तुम भी दूर, औ, ये लू।'

स्वीकार करूँ कि उस समय मैं गणित, भौतिक शास्त्र और रसायन शास्त्र का छात्र था, वह भी इण्टरमीडिएट कक्षा का, इसलिए अपनी सारी संवेदनशीलता के बावजूद और इस बात के बावजूद कि नियमित रूप से प्रयाग की पब्लिक लाइब्रेरी में मेरी प्रत्येक संध्या पुस्तकें पढ़ने में बीतती थी और 'परिमल' की गोष्ठियों का गुमनाम श्रोता भी मैं नियमित था, 'समय देवता' सरीखी काव्यबिम्बों से लदी कविता मुझे नहीं प्रभावित कर सकी। पर एक विचित्र जिज्ञासा का भाव श्री नरेश मेहता को लेकर मन में बन गया था। ठीक नहीं याद आता कि उन्हें कब पहले देखा और पहचाना। प्रयाग का छात्र होने और साहित्य में रूचि रहने के कारण यह घटना कभी सहज ढंग से घट गयी होगी।

नरेश मेहता जब भी मिलते एक आत्मीय हँसी से युक्त उनकी मुख-मुद्रा मुझे अपने जादुई आकर्षण में बाँध लेती। घण्टों हम लोग साथ बैठते चर्चा करते। कभी वे पूरी तन्मयता से 'मुक्तिबोध' के संस्मरणों में डूब जाते, कभी साहित्यिक मान्यताओं को लेकर हम लोग घण्टों एक दूसरे को सुनते।

जब उनका काव्य संकलन 'उत्सवा' प्रकाशित हुआ तो उसकी एक प्रति उन्होंने मुझे भी दी। प्रत्येक क़विता को बहुत तन्मयता से मैंने पढ़ा। मुझे लगा इन कविताओं में एक नया स्वर है। सर्जना का एक नया आयाम है। जो आज की युगीन विसंगतियों से एक भिन्न धरातल पर जुड़ता है और एक नया मूल्य बोध ही नहीं, नई मूल्यानुभूति से पाठक को समृद्ध करता है। स्वीकार करूँ कि 'उत्सवा' की कविताओं ने मेरे अन्दर नरेश जी को समझने और पहचानने की एक अदम्य लालसा उत्पन्न की। मैंने फिर और अधिक गहराई से उन्हें देखने और परखने का प्रयत्न किया। उनके अपने जीवन से जुड़े प्रसंगों को छेड़ने और उनके अंतरंग व्यक्तिगत जीवन को भेदने का एक नया दौर शुरू हुआ। कभी-कभी सीधे ही उनसे ऐसे प्रश्न भी पूछे जिनसे कई साहित्यकारों को उलझन हो सकती थी। परन्तु हर बार मुझे लगा कि नरेश जी और अधिक अन्तरंगता और गहराई से मेरे समक्ष अपने को उद्घाटित करते हैं। मुझे उनके व्यक्तित्व के विकास में जो एक गहन सर्जनात्मक आस्था है, उसने सबसे अधिक प्रभावित किया और दूसरी बात यह भी कि संसार में जीने का संघर्ष तो है ही परन्तु उसके परे भी इतना कुछ देखने, समझने और ग्रहण करने के लिए है, जिससे आँखें मूँदकर कोई सृजनशील व्यक्ति केवल अधूरा और एकांगी रह सकेगा।

नरेश मेहता का जीवन-क्रम बड़ी ही विचित्र संघर्षमयता का रहा है। संस्कार में उन्हें जहाँ वैष्णवी समर्पणता प्राप्त है, उसी के साथ सामन्ती गर्वानुभूति भी। उनका एक जन्म ऐसे परिवार में हुआ है, जहाँ पाण्डित्य और संस्कृति तो थी ही, सम्पन्नता भी प्रचुर थी,

परन्तु सम्पन्नता का स्वरूप विशृंखलित हो रहा था। उनके एक चाचा ने सन् १४ में बी.ए. पास किया था। दूसरे चाचा पण्डित शंकरलाल मेहता मध्य प्रदेश में एक डिप्टी कलेक्टर थे। उनका अपना कोई पुत्र नहीं था। अत: वे नरेश जी को पुत्रवत मानते थे। इनकी शिक्षा दीक्षा भी उन्हीं के यहाँ शुरू हुई। स्वाभाविक है कि इन्हें अतुलनीय प्यार और सम्पोषण प्राप्त हो रहा था। परन्तु आगे जब ये बीच की पढ़ाई करने नरसिंहगढ़ गये तो किसी छोटी-सी बात की चुभन इतनी हुई कि चाचा से प्राप्त मनीआर्डर लौटा दिया। जब लौटा दिया तो पुन: पूरे जीवन भर उन्होंने अपने चाचा से कोई मदद नहीं ली। यह एक घटना अपने आप में नरेश जी के व्यक्तित्व की संरचना को समझने में काफी दूर तक संकेतक का काम कर सकती है।

जहाँ चाचा की छाया पूरी सम्पन्नता और वैभव से मण्डित थी, पिता का व्यक्तित्व बहुत दूर तक असंग था। वे भी नौकरी करते थे, परन्तु छोटी। वे रजिस्ट्रार थे और उन्होंने एक के बाद एक करके तीन विवाह किया था। पत्नियाँ मरती जाती थीं और उनमें एक असंगता भरती जाती थी। नरेश जी तीसरी पत्नी से जन्मे थे। बातचीत में वे कहते हैं कि मेरे अन्दर दो व्यक्तित्व परिलक्षित होते हैं; साहित्यिक, असंग, व्यक्तित्व मेरे पिता का है और उदार, उल्लसित तथा वैभवपूर्ण व्यक्तित्व मेरे चाचा का।' एक मजेदार घटना नरेश जी बतलाते थे कि जब वे हाईस्कूल पास हुए और उन्होंने पिता से प्रस्ताव किया कि वे अब काशी जाकर उच्च शिक्षा पूरी करना चाहते हैं तो पिता जी ने कहा : 'मेरी जेब में ३३-३४ रुपये हैं, इन्हें लेकर आप काशी जायें चाहे जापान, मुझे कोई आपत्ति नहीं।' और सचमुच नरेश जी काशी गये। वहीं अपनी शिक्षा पूरी की। एम.ए. तक। पिता जी से कुल २० रुपये मासिक प्राप्त होते थे। यानी अपने छात्र-जीवन को पूरा करने में नरेश जी ने जिस यातनामय संघर्ष को झेला, उसका स्वाद बहुत कड़वा है। फिर भी उन्होंने हाथ नहीं पसारा। ऐसी स्मृतियाँ हैं कि दुकानों पर जाकर अपनी कविता सुनाकर पारिश्रमिक के रूप में ही कुछ सिक्के स्वीकार किये, जब उनके पास घर जाने को किराया नहीं था। पिताजी के विषय में वे कहते हैं कि उनकी असंगता में बेरुखापन नहीं था। जब नरेश जी इण्टर पास कर गये तो पिताजी ने खरीदकर एक 'ब्लैक बर्ड' कलम लड़के को दी थी। इतना ही नहीं उनकी वत्सलता में एक अजीब गरिमामयी शालीनता थी। वे पुत्र को बराबर 'आप' कहकर पुकारते थे। एक ओर जीवन का विकट वास्तव था, जो नरेश जी पर पूरी कड़ुवाहट के साथ उतर कर छाना चाहता था, दूसरी ओर उनका मानसिक संस्कार था जो 'उषा' के द्वार से संस्कृति के शोध की प्रेरणा देता था। परिणामस्वरूप वह द्वन्द्व शुरू हुआ, जिसने नरेश जी के व्यक्तित्व को दो धरातलों पर प्रभावित किया। जीवन व्यापार में उन्हें अपने संघर्ष का अनुभव प्रभावित करता था और इस सीमा तक कि वे बाकायदे कम्यूनिस्ट भी हो गये थे। परन्तु अपनी रचनाधर्मिता को उस प्रभाव से जोड़कर कविताएं कर पाना उनसे पहले भी सम्भव नहीं हो सका और बाद में तो उससे वे पूर्णत: मुक्त हो गये।

नरेश जी की नसों में बहने वाला संस्कार आर्षप्रज्ञा का संस्कार था। उसमें वेद था, पंडित गोपीनाथ कविराज और स्वामी विशुद्धानन्द थे, प्रकृति की वानस्पतिक वैष्णवता और प्रेम की उदात्तता थी।

नरेश मेहता की कविताओं या उपन्यासों की गन्ध प्रेम से उद्भूत होती है। कविता में वही प्रेम उदात्ततर होता चला जाता है और अन्त में उसी में से निकलता है यह महाभाव—

'जब तुम मुझे अपमानित करते हो
तब तुम मेरे निकष होते हो।
प्रभु से प्रार्थना है
वह तुम्हें निकष ही रखे'

अपने जीवन की सारी पार्थिव अतृप्तियों को उन्होंने एक कल्याणकारी प्रकृति गन्ध से संवलित करके अपनी सर्जना के उद्यान को नया राग वैभव प्रदान किया है।

नरेश मेहता के सर्जनात्मक व्यक्तित्व की तहें उघेड़ने पर कुछ ऐसी मौलिक स्थितियों से साक्षात्कार होता है, जो उनकी रचना-यात्रा की पहचान कराने में विशेष महत्व की हैं। पहली बात तो यह कि उनकी चेतना अपने उन्मेष में निरंतर उर्ध्वगामी है, किन्तु अपने उर्ध्वगमन की प्रक्रिया में वह धरती को छोड़ती नहीं है, बल्कि धरती के सम्पूर्ण प्रसार में ओत-प्रोत होती हुई धरती और आकाश को एक कर देती है। एक ओर धरती की जीवंत हरीतिमा है, वनस्पतियों की गंध है, उनकी उत्फुल्लता और प्रार्थनामयता है, तो दूसरी ओर आकाश की सम्पूर्ण विराटता को अपने में समेटते हुए ब्राह्मण्ड के असंख्य ग्रह, नक्षत्र, नाना सौर-मण्डल अपनी-अपनी कक्षाओं और धुरियों पर अवस्थित हैं। नरेश मेहता की चेतना ब्रह्माण्ड–व्यापी चेतना है। इसलिए जहाँ एक ओर वे इस प्रकार की पंक्तियाँ लिख पाते हैं :

''फूल की नहीं
मनुष्य में प्रार्थना की सुगंध होती है।
प्रत्येक हवा के साथ
जब हमारे स्वत्व का चन्दन-वृक्ष
पीपल-पत्रों-सा प्रार्थनामय हो जाता है,
तब कोई और नहीं
यह मानवीय स्वत्व ही कल्पतरू होता है
मनुष्यों! मानवीय स्वत्व ही कलपतरू है।

दूसरी ओर वे लिखते हैं :

''पुराकथाओं के बाघम्बर लपेटे
वह आग्नेय नेत्री

रूद्र—

सूर्यों पर लेटा हुआ
संहार का धूम पी रहा है
और सृष्टि का प्रकाश उगल रहा है।
यह कैसा महा श्मशान का स्वर्गोत्सव है!
शक्ति के महाशव सदाशिव का यह कैसा लीला-
भाव है?
यह किसका लीला-भाव है?
कौन है वह
जो महाकाल की अलगनी पर
ग्रहों-नक्षत्रों की राशियों की
और अंकों की आकृतियाँ प्रदान कर रहा है!
क्षणों की चीनांशुकों
और संवत्सरों के अभिषेक पट्टों वाले इतिहासों
को
पौराणिक बुनावट में बुनकर
नये आकाश के निर्माण में फैलाता जा रहा है
फैलाता ही जा रहा है।''

प्रश्न उठता है कि कवि ने विराटता की अनुभूति को अपने सर्जनात्मक व्यक्तित्व में किस प्रकार पचाया है। क्या वह मात्र ब्रह्माण्ड की विराटता को विभिन्न बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से प्रक्षिप्त करता हुआ पाठक को चमत्कृत और आश्चर्य विभोर करना चाहता है अथवा वह एक प्रकार की लीला कर रहा है? एक प्रकार की क्रीड़ा और उसी क्रीड़ा में आह्लादित हो रहा है, मुझे लगता है कि ऐसा सोचना कवि के साथ न्याय नहीं। कवि निरन्तर अपनी चेतना का विस्तार करता चला जाता है। इस प्रक्रिया की निष्पत्ति एक ओर उसकी प्रज्ञा में आर्ष परम्परा के परिपाक द्वारा संभव होती है, दूसरी ओर सृष्टि की विराटता में उसकी आत्मा के प्रसार द्वारा। जैसा प्रारम्भ में ही निवेदन किया गया कवि के व्यक्तित्व में प्रेम के अनुभव का एक गहरा सन्निवेश हुआ है, जो उसके समूचे व्यक्तित्व को क्रमशः उदात्ततर करता जाता है।

इस उदात्त मानस के साथ कवि ने एक गहरी सर्जनात्मक तपस्या की राह से गुजरने की साधना की है। प्रेम की कोमलता किस प्रकार उसकी सृजनात्मक मनीषा को क्रमशः एक विराटतर सन्दर्भ में ढालती जाती है, उसकी एक झलक इन पंक्तियों में देखी जा सकती है :

''जब तुम मेरे सामने बैठी होती हो

तो लगता है—
पूर्णिमा वाले समुद्र की सारी आकुलता
लौट-लौटकर
मेरे तट से अनवरत टकराती है
और मेरी बालुओं पर
जलपरियों वाली अपनी मृणाल देह लिख जाती है।''

वास्तव में नरेश मेहता के सृजनात्मक व्यक्तित्व में उनका प्रेम, प्रकृति, उनकी आर्ष प्रज्ञा क्रमशः गहनतर होती चली गई साधना एवं उनके व्यक्तित्व की वह तपः पूत उदात्त संस्कारिता एक विचित्र परिपाक के रूप में संघटित हुई है। यदि इनमें से एक भी तत्व निकाल दिया जाय तो उनकी कविता का स्वरूप विश्रृंखलित हो जायेगा। उनके प्रेम को हटाते ही उनकी आर्ष प्रज्ञा उन्हें गीता के रचनाकार की तरह एक तत्ववादी चिन्तक के रूप में प्रस्तुत करने में सफल हो जाती। इसी प्रकार उनकी उदात्त संस्कारिता के अभाव में विश्व का विराटत्व उन्हें एक आश्चर्य विभोर द्रष्टा के रूप में छोड़ देता। साधना और उन्मेष के नैरन्तर्य के अभाव में विराट् -बोध उनकी भाषा की पकड़ में नहीं आता।

'उत्सवा' की प्रत्येक कविता की परिणति में 'तुम मेरा मौन हो' का कोमल एवं संवेदनशील रचनाकार सक्रिय है। नरेश मेहता अपनी काव्य-यात्रा के अन्तिम दौर में दो छोरों पर स्थित नजर आते हैं। 'आखिर समुद्र से तात्पर्य' में संकलित कविताएँ प्रकृति के विराट सौन्दर्य विशेषकर समुद्र की विभिन्न छवियों और छटाओं का साक्षात्कार करता है, तो 'पिछले दिनों नंगे पैरों' की कविताएँ मालवा की इतिहास गन्ध को पाठक के नासा पुटों में भर देती हैं। कुल मिलाकर आज हिन्दी काव्य-जगत में नरेश मेहता एक आश्चर्य की भाँति घटित हुए हैं। उनके काव्य-व्यक्तित्व को आज का समाज अभी पूरी तौर पर न तो पचा पा रहा है, न उसको समाकलित ही कर पा रहा है।

९० सी, बाघम्बरी मार्ग
इलाहाबाद



बहुआयामी व्यक्तित्व के कथाकार : श्री नरेश मेहता

● डॉ० कैलाश चन्द्र शर्मा

हिन्दी साहित्य के शीर्षस्थ कथाकार एवं आधुनिक कविता के प्रतीक रचनाकार श्री नरेश मेहता का व्यक्तित्व बहुआयामी रहा है। मेहता जी निर्विकार, उच्छल आत्मीयता की मूर्ति, शालीनता से ओतप्रोत, चुम्बकीय मुस्कानधारी एवं आस्थावादी मानुष-प्रेमी लेखक थे। उनका आन्तरिक व्यक्तित्व भी बहिरंग की ही भाँति निर्मल एवं परमसत्ता के प्रति उनकी समर्पण-भावना से परिपूर्ण था। आपका विश्वास था कि मनुष्य एक जन्म का नहीं होता है, साहित्यकार के पास अपना जीवन-दर्शन नहीं होता, और इस क्षेत्र में एक धारा में नहीं बहा जा सकता। उनके अनुसार भारतीय दर्शन निरंतर विकासशील प्रक्रिया है।

उन्होंने अपने समय की प्रचलित प्रमुख विधाओं यथा— मुक्तक काव्य, प्रबन्ध काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, विचार, सम्पादन आदि को अपनी भावाभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में चुना। उनकी कालजयी कृतियों के लिए उन्हें विभिन्न पुरस्कारों द्वारा भी सम्मानित किया गया, और वर्ष १९९२ में ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया जाना निश्चय ही उनकी सृजनशीलता एवं संघर्ष का सम्मान था।

कथाकार के रूप में उनके द्वारा लिखित आठ उपन्यास और तीन कहानी संग्रह हिन्दी साहित्य की अनुपम निधि हैं। उपन्यासकार के अतिरिक्त कहानीकार के रूप में भी उनका एक विशिष्ट स्थान है। उनकी कहानियां आत्मपरक हैं जो उनके द्वारा जीवन का यथार्थ लेकर लिखी गई हैं। इन कहानियों को पढ़कर मानव-जीवन को पहचानने की उनकी अन्तर्दृष्टि एवं उनके परिवेश-अभिव्यक्ति देने की उनकी समर्थता का परिचय प्राप्त होता है। उन्होंने अपनी कहानियों में व्यापक मानव-जीवन के प्ररिप्रेक्ष्य को स्पर्श देकर आधुनिकता मूल्यों के नवीन आयामों को उभारने की चेष्टा की है। श्री नरेश मेहता का कथा-फलक इतना विस्तृत है कि उसमें परम्परागत मूल्यों के साथ-साथ आधुनिक जीवन-मूल्यों को भी समेटा गया है। कथाकृतियों की कथावस्तु की दृष्टि से मेहता जी ने कथानकों में मानव-जीवन के विभिन्न रंगों को संयोजित किया है। उन्होंने काल्पनिक जगत की कथा को प्रस्तुत न करके अपनी रचनाओं में वास्तविक विश्व के मानव-जीवन को यथार्थ रूप में चित्रित किया है। वे व्यक्ति, समाज, संस्कृति, राजनीति आदि किसी को भी नहीं भूले हैं और सभी को उन्होंने अपने कथानकों में यथेष्ठ स्थान प्रदान किया है।

[illegible] मेहता जी का पहला उपन्यास है। हिन्दी जगत में श्री नरेश मेहता [illegible] प्रतिष्ठित हुए थे, अतः यह उपन्यास उनके साहित्यक लेखन में एक [illegible] का प्रवर्तक बना। इस उपन्यास की पात्र रंजना ऐसी विशिष्ट पात्र [illegible] और उपन्यासकार ने उसको विभिन्न सामाजिक स्थितियों में रखकर [illegible] किया है। रंजना के जीवन में कई पुरुष- सैयद, नन्द लाल, अकलंक, मेजर [illegible]न, बान निकोलस, और कर्नल कुलकर्णी आए, परन्तु कोई भी उसके मनोभावों को [illegible] न कर सका और प्रत्येक ने उसका अपने-अपने ढ़ंग से उपभोग किया। रंजना किसी की दयाशीलता एवं सहृदयता की पात्र नहीं बनना चाहती। वह अपने को विधवा एवं सधवा की संज्ञा से ऊपर समझती है और निरन्तर अपनी परिस्थितियों की विषमताओं, दुरूहताओं तथा असंगतियों में संघर्ष करती है। इस प्रकार देखा जाय तो इस उपन्यास की नायिका रंजना हिन्दी की उन इनी-गिनी नायिकाओं में से है, जिसमें अपूर्व जिजीविषा है तथा साहस एवं आत्मविश्वास की कोई कमी नहीं है।

मेहता जी के उपन्यास— 'यह पथ बन्धु था', 'धूमकेतु एक श्रुति', 'नदी यशस्वी है', और 'उत्तरकथा' भारतीय दृष्टि के उपन्यास हैं, और यह कहना कोई अतिश्योक्ति न होगी कि कम से कम हिन्दी में तो नरेश मेहता जी के ये उपन्यास ही भारतीय दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस सम्बन्ध में व्यक्ति विशेष के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द के उपन्यासों के होते हुए भी मेहता जी के इन उपन्यासों को ही केवल भारतीय दृष्टि का प्रतिनिधित्व करने वाले उपन्यास बताना कहाँ तक उचित है। यहाँ पर यह स्पष्ट करना उचित होगा कि भारतीय परिवेश में केवल प्रेमचन्द के उपन्यास ही नहीं लिखे गये अपितु श्री भगवतीचरण वर्मा का 'भूले बिसरे चित्र', अमृत लाल नागर का 'बूँद और समुद्र', फणीश्वर नाथ रेणु का 'मैला आँचल', 'यशपाल का 'झूठा सच', राजेन्द्र यादव का 'उखड़े हुए लोग', हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारूचन्द्र लेख', श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' तथा देवकी नन्दन खत्री के सभी उपन्यासों भारतीय दृष्टि के उपन्यास हैं, परन्तु इन सभी उपन्यासों में कुशलता से संयोजन कार्य ही हुआ है जबकि नरेश मेहता के उपन्यासों में चूलें बिठाने की अपेक्षा सृजन हुआ है। ऐसा नहीं है कि मेहता जी के सभी उपन्यास सृजन प्रधान हैं, अपितु उनके उपन्यास— 'दो एकान्त', 'प्रथम फाल्गुन' एवं 'डूबते मस्तूल' सृजन के नहीं अपितु उनके लेखन के प्रतीक हैं। इस सम्बन्ध में नरेश जी के 'हम अनिकेतन' के कुछ अंश दृष्टव्य हैं—

'किसका बेटा' या 'वह मर्द थी' देश के बँटवारे की पृष्ठभूमि पर लिखी मेरी कहानियाँ भले ही कुछ को मार्मिक लगी हों लेकिन वस्तुतः वह मेरी सर्जनात्मक भूमि नहीं थी। कोई भी चीज चाहे वह इतिहास या संस्कृति कुछ भी हो तब एक सृजनात्मक नहीं बन पाते जब तक आप उसमें से गुजरे नहीं हों। लिखने और लिखवाने में बड़ा अन्तर

है। पुरी और लखनऊ को नरेश जी ने लिखा है और मालवा ने उनसे लिखवाया है। शायद यही कारण रहा हो कि नरेश जी के उपन्यास 'उत्तर कथा' को पढ़ने के बाद किसी ने इस उपन्यास को मालवा की 'भागवतजी' बताया है। निश्चय ही यह उनकी सर्जनात्मकता को दर्शाता है। सम्भवत: ऐसा ही बोध उस सामान्य से पाठक के मन में भी उदय हुआ हो और इसीलिए उसने कहा कि— 'नरेश मेहता का उपन्यास उत्तरकथा तो हमारे मालवा की भागवतजी है।' मेरे विचार में किसी पाठक द्वारा किसी लेखक को इससे बड़ा कोई सम्मान नहीं दिया जा सकता। यह हम सभी भली–भाँति जानते हैं कि 'उत्तरकथा' न तो कोई पुराण है और न ही इस उपन्यास में कोई अलौकिक अवतारी पात्र ही है, परन्तु नरेश जी की यह कृति मालवा के लोगों को उस मालवा और मालवा की सम्पूर्ण सामाजिकता से अवश्य साक्षात्कार कराती है जो कभी था और अब लगभग नहीं है।

'उत्तर कथा' नरेश जी का एक श्रेष्ठ उपन्यास है, उपन्यासकार ने एक बहुत बड़े फलक का निर्माण किया है जो स्थान की दृष्टि से तो इन्दौर-उज्जैन के इर्द-गिर्द अवस्थित है, परन्तु काल की दृष्टि से लगभग तीन पीढ़ियों को समेटता है। इस उपन्यास के कथा संसार में आठ परिवारों और सैकड़ों परिवारों की भाग्य-गाथा गुंथी हुई है। शताब्दि का पहिया लगभग आधा घूम जाता है। एक पूरी की पूरी पीढ़ी मरती है, दूसरी पीढ़ी बूढ़ी होकर मृत्यु की प्रतीक्षा कर रही है और तीसरी पीढ़ी जवान हो जाती है। इतने बड़े पैमाने पर मनुष्य के सुख-दु:ख की कहानी हँसी-खेल नहीं है। श्री नरेश मेहता को इसमें सफलता मिली यह बहुत बड़ी बात है।

दुर्गा ही इस उपन्यास की प्रमुख पात्र है। शिवशंकर आचार्य, कृष्णा देवी शुक्ल, त्र्यम्बक, नर्मदा देवी उपाध्याय, गोविन्द, गौरा आदि अनेक पात्र उपन्यास में प्रमुखता के साथ उभरते हैं जो भारतीय जीवन के विविध पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसमें शिवशंकर आचार्य का चरित्र दुर्गा के बाद सर्वाधिक सशक्त रूप में उभरा है। उपन्यास की नायिका दुर्गा अपने परिवार में जुड़ी रहकर उसी में समाप्त हो जाती है।

मेहता जी का 'यह पथ बन्धु था' उपन्यास हिन्दी के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इस उपन्यास में बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के सामाजिक-राजनीतिक जीवन के साथ-साथ परम्परागत आस्थाओं पर आधारित पारिवारिक जीवन का विस्तृत चित्र है। उपन्यास सूत्रपथ, पूर्वपथ, उत्तरपथ तथा शेष पथ आदि चार खण्डों में विभक्त है। इन चार खण्डों में सन् १९२९ से १९५५ की भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की पृष्ठभूमि पर साधारण जन की गाथा लिखी गई है। उपन्यास में देश के व्यापक, धरातल पर घटने वाली घटनाओं का चित्रण हुआ है। इनमें मेहता जी ने असहयोग आन्दोल्न, जलियांवाला हत्याकाण्ड, भारत छोड़ो आन्दोलन, क्रिप्स मिशन, तथा स्वतन्त्रता संघर्ष का चित्रण करते हुए तत्कालीन कांग्रेसी नेताओं की स्वार्थ-नीति का भी सजीव चित्रण किया है। समाज में अन्याय, अत्याचार, रिश्वत, ढोंग और मिथ्याचार का बोलबाला है। देश और समाज की

'डूबते मस्तूल' मेहता जी का पहला उपन्यास है। हिन्दी जगत में श्री नरेश मेहता एक कवि के रूप में प्रविष्ट हुए थे, अतः यह उपन्यास उनके साहित्यक लेखन में एक नई अभिव्यक्ति-माध्यम का प्रवर्तक बना। इस उपन्यास की पात्र रंजना ऐसी विशिष्ट पात्र है जो रूप गर्विता है और उपन्यासकार ने उसको विभिन्न सामाजिक स्थितियों में रखकर चरित्र चित्रण किया है। रंजना के जीवन में कई पुरुष- सैयद, नन्द लाल, अकलंक, मेजर जांस्टीन, वान निकोलस, और कर्नल कुलकर्णी आए, परन्तु कोई भी उसके मनोभावों की परख न कर सका और प्रत्येक ने उसका अपने-अपने ढ़ंग से उपभोग किया। रंजना किसी की दयाशीलता एवं सहृदयता की पात्र नहीं बनना चाहती। वह अपने को विधवा एवं सधवा की संज्ञा से ऊपर समझती है और निरन्तर अपनी परिस्थितियों की विषमताओं, दुरूहताओं तथा असंगतियों में संघर्ष करती है। इस प्रकार देखा जाय तो इस उपन्यास की नायिका रंजना हिन्दी की उन इनी-गिनी नायिकाओं में से है, जिसमें अपूर्व जिजीविषा है तथा साहस एवं आत्मविश्वास की कोई कमी नहीं है।

मेहता जी के उपन्यास— 'यह पथ बन्धु था', 'धूमकेतु एक श्रुति', 'नदी यशस्वी है', और 'उत्तरकथा' भारतीय दृष्टि के उपन्यास हैं, और यह कहना कोई अतिश्योक्ति न होगी कि कम से कम हिन्दी में तो नरेश मेहता जी के ये उपन्यास ही भारतीय दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस सम्बन्ध में व्यक्ति विशेष के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द के उपन्यासों के होते हुए भी मेहता जी के इन उपन्यासों को ही केवल भारतीय दृष्टि का प्रतिनिधित्व करने वाले उपन्यास बताना कहाँ तक उचित है। यहाँ पर यह स्पष्ट करना उचित होगा कि भारतीय परिवेश में केवल प्रेमचन्द के उपन्यास ही नहीं लिखे गये अपितु श्री भगवतीचरण वर्मा का 'भूले बिसरे चित्र', अमृत लाल नागर का 'बूँद और समुद्र', फणीश्वर नाथ रेणु का 'मैला आँचल', 'यशपाल का 'झूठा सच', राजेन्द्र यादव का 'उखड़े हुए लोग', हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारूचन्द्र लेख', श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' तथा देवकी नन्दन खत्री के सभी उपन्यासों भारतीय दृष्टि के उपन्यास हैं, परन्तु इन सभी उपन्यासों में कुशलता से संयोजन कार्य ही हुआ है जबकि नरेश मेहता के उपन्यासों में चूलें बिठाने की अपेक्षा सृजन हुआ है। ऐसा नहीं है कि मेहता जी के सभी उपन्यास सृजन प्रधान हैं, अपितु उनके उपन्यास— 'दो एकान्त', 'प्रथम फाल्गुन' एवं 'डूबते मस्तूल' सृजन के नहीं अपितु उनके लेखन के प्रतीक हैं। इस सम्बन्ध में नरेश जी के 'हम अनिकेतन' के कुछ अंश दृष्टव्य हैं—

'किसका बेटा' या 'वह मर्द थी' देश के बँटवारे की पृष्ठभूमि पर लिखी मेरी कहानियाँ भले ही कुछ को मार्मिक लगी हों लेकिन वस्तुतः वह मेरी सर्जनात्मक भूमि नहीं थी। कोई भी चीज चाहे वह इतिहास या संस्कृति कुछ भी हो तब एक सृजनात्मक नहीं बन पाते जब तक आप उसमें से गुजरे नहीं हों। लिखने और लिखवाने में बड़ा अन्तर

है। पुरी और लखनऊ को नरेश जी ने लिखा है और मालवा ने उनसे लिखवाया है। शायद यही कारण रहा हो कि नरेश जी के उपन्यास 'उत्तर कथा' को पढ़ने के बाद किसी ने इस उपन्यास को मालवा की 'भागवतजी' बताया है। निश्चय ही यह उनकी सर्जनात्मकता को दर्शाता है। सम्भवत: ऐसा ही बोध उस सामान्य से पाठक के मन में भी उदय हुआ हो और इसीलिए उसने कहा कि— 'नरेश मेहता का उपन्यास उत्तरकथा तो हमारे मालवा की भागवतजी है।' मेरे विचार में किसी पाठक द्वारा किसी लेखक को इससे बड़ा कोई सम्मान नहीं दिया जा सकता। यह हम सभी भली-भाँति जानते हैं कि 'उत्तरकथा' न तो कोई पुराण है और न ही इस उपन्यास में कोई अलौकिक अवतारी पात्र ही है, परन्तु नरेश जी की यह कृति मालवा के लोगों को उस मालवा और मालवा की सम्पूर्ण सामाजिकता से अवश्य साक्षात्कार कराती है जो कभी था और अब लगभग नहीं है।

'उत्तर कथा' नरेश जी का एक श्रेष्ठ उपन्यास है, उपन्यासकार ने एक बहुत बड़े फलक का निर्माण किया है जो स्थान की दृष्टि से तो इन्दौर-उज्जैन के इर्द-गिर्द अवस्थित है, परन्तु काल की दृष्टि से लगभग तीन पीढ़ियों को समेटता है। इस उपन्यास के कथा संसार में आठ परिवारों और सैकड़ों परिवारों की भाग्य-गाथा गुंथी हुई है। शताब्दि का पहिया लगभग आधा घूम जाता है। एक पूरी की पूरी पीढ़ी मरती है, दूसरी पीढ़ी बूढ़ी होकर मृत्यु की प्रतीक्षा कर रही है और तीसरी पीढ़ी जवान हो जाती है। इतने बड़े पैमाने पर मनुष्य के सुख-दु:ख की कहानी हँसी-खेल नहीं है। श्री नरेश मेहता को इसमें सफलता मिली यह बहुत बड़ी बात है।

दुर्गा ही इस उपन्यास की प्रमुख पात्र है। शिवशंकर आचार्य, कृष्णा देवी शुक्ल, त्र्यम्बक, नर्मदा देवी उपाध्याय, गोविन्द, गौरा आदि अनेक पात्र उपन्यास में प्रमुखता के साथ उभरते हैं जो भारतीय जीवन के विविध पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसमें शिवशंकर आचार्य का चरित्र दुर्गा के बाद सर्वाधिक सशक्त रूप में उभरा है। उपन्यास की नायिका दुर्गा अपने परिवार में जुड़ी रहकर उसी में समाप्त हो जाती है।

मेहता जी का 'यह पथ बन्धु था' उपन्यास हिन्दी के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इस उपन्यास में बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के सामाजिक-राजनीतिक जीवन के साथ-साथ परम्परागत आस्थाओं पर आधारित पारिवारिक जीवन का विस्तृत चित्र है। उपन्यास सूत्रपथ, पूर्वपथ, उत्तरपथ तथा शेष पथ आदि चार खण्डों में विभक्त है। इन चार खण्डों में सन् १९२९ से १९५५ की भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की पृष्ठभूमि पर साधारण जन की गाथा लिखी गई है। उपन्यास में देश के व्यापक, धरातल पर घटने वाली घटनाओं का चित्रण हुआ है। इनमें मेहता जी ने असहयोग आन्दोलन, जलियांवाला हत्याकाण्ड, भारत छोड़ो आन्दोलन, क्रिप्स मिशन, तथा स्वतन्त्रता संघर्ष का चित्रण करते हुए तत्कालीन कांग्रेसी नेताओं की स्वार्थ-नीति का भी सजीव चित्रण किया है। समाज में अन्याय, अत्याचार, रिश्वत, ढोंग और मिथ्याचार का बोलबाला है। देश और समाज की

समस्याओं के साथ उसमें श्रीनाथ ठाकुर के टूटते परिवार की मार्मिक कथा भी कही गई है। उपन्यास का नायक श्रीधर है, जो अपने आदर्शों के कारण जीवन में असफल रहता है। श्रीधर टूटते हुए अनुभव करते हैं। वे परिस्थितियों के कमजोर पुतले हैं जो अँधेरे से अँधेरे तक यात्रा करने वाले हजारों-लाखों साधारण कमजोरों में से एक हैं।

श्रीधर एक लम्बी अवधि के बाद जेल से घर लौटते हैं और देखते हैं कि उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया, घर का बँटवारा हो गया, उनकी पत्नी सरस्वती मृत्यु-शैय्या पर है।, उनकी दोनों पुत्रियों के विवाह हो चुके हैं, और उनकी पुत्री गुनी होकर घर लौट आई है। श्रीधर अपने ही घर में अकेलापन और अजनबीपन अनुभव करते हैं। राज्य का इतिहास लिखकर उन्हें जेल जाना पड़ा था, परन्तु ज़िस स्थान पर बैठकर उन्होंने इतिहास लिखा था, वहीं बैठकर वे मानव जाति का इतिहास लिखने लगते हैं। इस उपन्यास के नायक श्रीधर एक पराजित व्यक्तित्व लेकर जीते दिखाई देते हैं। उनके रहते उनका भरा पूरा परिवार टूट जाता है और वे जैसे मात्र दृष्टा बनकर रह जाते हैं। श्रीधर का व्यक्तित्व पाठक को प्रभावित नहीं कर पाता किन्तु पूरा उपन्यास अपने आप में एक सशक्त, रोचक एवं शिल्पगत प्रौढ़ता लिए हुए हैं जो श्री नरेश मेहता के कथा शिल्प की विशेषता है।

मेहता जी का उपन्यास 'धूमकेतु: एक श्रुति' उदयन की स्मृतियों की कथा है। उदयन के बचपन से लेकर बड़े होने और स्कूल जाने के दिनों तक की जो स्मृतियां उसके मानस पटल पर उभरती हैं, उन्हें ही उपन्यासकार ने औपन्यासिक रूप प्रदान किया है। उदयन बचपन में माँ को खो देता हैं, और उन्हें स्मृति में देखता है। परिवार के अन्य सभी सदस्य भी उसकी स्मृति में सजीव हो जाते हैं। उदयन शेखर की तरह जिज्ञासु है। मेहता जी का यह उपन्यास 'शेखर : एक जीवन' की भाँति ही गाम्भीर्य लिए हुए है। उदयन भी बालक है, माँ के अभाव की पूरक वल्लभ बुआ है जो बाल विधवा है और मुखिया का गर्भ धारण कर आत्महत्या करती है। वल्लभा के माध्यम से ही उदयन माँ के प्रति, बच्चों के प्रति, बच्चों के जन्म के प्रति और मरण के प्रति जिज्ञासु होता है और जीवन की छोटी-छोटी स्मृतियां उदयन के चरित्र का निर्माण करती हैं। इस उपन्यास के शिल्प में पर्याप्त नवीनता है। सम्पूर्ण उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। उदयन के सोचने-समझने के ढंग तथा उससे होने वाली प्रतिक्रियाओं का चित्रण बड़ी ही कलात्मकता एवं शिल्प-सौष्ठव के साथ किया गया है।

'नदी यशस्वी है' उपन्यास में श्रुति-विस्तार का शिशु उदयन श्रुति आलाप में आकर धीरे-धीरे बड़ा होने लगता है। भवानी और सुनन्दा उसके बड़े होने के ही दो ध्रुव हैं। भवानी उसे परिवेश में बड़ा होने में सहायता दे रहा है, तो सुनन्दा उसके भीतर को उत्कीर्षित करने में लगी है। उदयन की जिज्ञासा अब एक बालक की जिज्ञासा न रहकर एक किशोर-मन की जिज्ञासा बन चुकी है। सुनन्दा की आकाश बसी आँखें उसके लिए

एक विशेष आकर्षण बन जाती हैं। यद्यपि कभी वल्लभा भी उसके लिए विशेष आकर्षण थी, किन्तु इन दोनों के पीछे के भाव में बहुत अन्तर है। वल्लभा की ओर आकर्षित उदयन एक अभावग्रस्त बालक था जो प्रत्येक नारी में एक बालक की दृष्टि से अपेक्षित मातृ छवि को ढूंढ़ता था। इसके अतिरिक्त श्रुति-आलाप का उदयन वय; सन्धि की अवस्था से गुजरने वाला किशोर उदयन है जो प्रत्येक नारी में उस मूल स्त्री को ढूंढ़ना-समझना चाहता है जो विभिन्न सम्बन्धों के आवरण में छिपी रहती हैं। शिल्प की दृष्टि से 'नदी यशस्वी है' अधिक प्रभावशाली उपन्यास बन पड़ा है। यह उपन्यास स्मृत्यावलोकन पद्धति पर आधारित है जिसके कारण शिल्प अधिक स्वाभाविक हो गया है। 'धूमकेतु : एक श्रुति' की भाँति इसमें भी जीवन का भ्रम हो सकता है, किन्तु वस्तुतः यह उपन्यास ही है जीवनी नहीं।

मेहता जी का उपन्यास — 'दो एकान्त' वानीरा और विवेक के टूटते हुए जीवन की दुःखान्त अभिव्यक्ति है। विवेक डॉक्टर है और हमेशा रोगियों से घिरा रहता है जिससे वानीरा अपने को उपेक्षित महसूस करती है। ऐसे में विधुर, निःसन्तान, चाय-बागान का मालिक मिस्टर क्लाइड उनके जीवन में आता है जिससे वानीरा की उदासियां टूटती हैं। वानीरा के जीवन में मेजर आनन्द भी आते हैं जिसका वह गर्भ ढ़ोती है और उससे प्रार्थना करती है कि लद्दाख से लौटकर वह अपने भावी शिशु को स्वीकार कर ले। शिल्पगत दृष्टि से इस उपन्यास में अभिव्यक्ति प्रेम की नहीं अपितु प्रेम के अभाव की हुई है। मेहता जी ने केवल स्थितियों के द्वारा पात्रों का बड़ा ही सुन्दर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। मेहता जी के उपन्यास- 'प्रथम फाल्गुन' में प्रेम- सम्बन्ध की असफलता का निदर्शन किया गया है। शिल्प की दृष्टि से इसमें सीधी-सपाट वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया गया है तथा घटनाओं का संयोजन बड़े ही साधारण रूप में किया गया है।

उपन्यासों के अतिरिक्त नरेश जी ने अपनी कहानियों में परम्परागत मूल्यों की अपेक्षा आधुनिक मूल्यों को अधिक प्रमुखता से अंकित किया है। उन्होंने अपने कथानकों में विशिष्ट जन की अपेक्षा साधारण जन को अधिक महत्त्व दिया है। श्री नरेश मेहता ने अपने कथा साहित्य का सृजन सोद्देश्य किया है। श्रेष्ठ लेखक होने के नाते उन्होंने पाठकों के समक्ष अपनी कृतियों के माध्यम से समाज की वस्तुस्थिति को यथार्थपरक ढ़ंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने सामाजिक जीवन का सहज-स्वाभाविक चित्रण करने के साथ-साथ सामाजिक विकृतियों एवं उनके लिए आधारभूत पात्रों का भी चरित्र-चित्रण किया है। उपन्यासों के अतिरिक्त उन्होंने अपनी कहानियों में भी स्वाधीनता-संघर्ष की बलिदानी भावना, युवा आक्रोश, स्वातन्त्र्योत्तर भारत की पीड़ा, दंगे-फसाद, मार-काट, आधुनिकता के प्रभावस्वरूप रूढ़ियों के भंजन, कुंठा, संत्रास तथा पारिवारिक विघटन एवं टूटन जैसे विभिन्न विषयों को सम्मिलित किया है। इसके अतिरिक्त कहानी 'देवदर्शिनी के द्वारा उन्होंने तीर्थ-पुरोहितों के प्रति निर्मित भ्रामक धारणा का खण्डन किया है। कहानी 'एक समर्पित महिला' के द्वारा पाश्चात्य संस्कृति एवं साहित्य के प्रति अन्धभक्ति को चित्रित किया गया है।

श्री नरेश मेहता ने अपने नाटक 'खण्डित यात्राएं' के माध्यम से नई पीढ़ी के संघर्ष एवं मूल्यों के द्वन्द्व को उजागर करने में सफलता हासिल की है। इस नाटक का नायक महेन अपने पिता की सामन्तवादी संस्कृति के प्रति अपने को नहीं ढाल पाता। वह उनकी इच्छा के विरूद्ध अपनी मनचाही आधुनिका बीना से विवाह करता है जो आधुनिक युवा पीढ़ी की विद्रोही प्रवृत्ति का प्रतीक है। किन्तु क्या उसका वैवाहिक जीवन सफल हो पाता है? नाटककार का उत्तर है- नहीं। विवाहोपरान्त महेन और बीना के दाम्पत्य-सम्बन्धों में जो तनाव आ जाता है, उसकी अन्तिम परिणति दोनों के अलगाव में होती है। इस प्रेमी युगल की जीवन-त्रासदी को नाटककार ने मानो प्रेम-विवाहों की असफलता के रूप में व्यंजित किया है।

महेन और बीना के ठीक विपरीत नन्दिता और शशांक हैं जो एक दूसरे से प्रेम करते हैं ओर दाम्पत्य सम्बन्धों में बँधना चाहकर भी पाणिग्रहण नहीं कर पाते। इसके लिए भी नन्दिता को ही उत्तरदायी माना जा सकता है क्योंकि वह आधुनिक युवा पीढ़ी के समान प्रेम तो करती है परन्तु परम्परागत सामन्तवादी मूल्यों से जुड़ी होने के कारण शशांक से विवाह नहीं कर पाती। इस प्रकार उन दोनों की जीवन-यात्राएं भी खण्डित ही रह जाती हैं। श्री नरेश मेहता ने इस नाटक के माध्यम से मूल्यों के संक्रांतिकाल में स्त्री-पुरूष सम्बन्धों का विवेचन एक भिन्न दृष्टि से किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि साहित्यकार श्री नरेश मेहता का साहित्य कवि के रूप में ही नहीं अपितु अपने उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, विचार आदि के सृजन द्वारा कथाकार के रूप में भी हिन्दी-साहित्यकारों में शीर्ष स्थान पर है। वे मानव-मन एवं जीवन के कुशल चितेरे थे और आज भी न केवल काव्य की दृष्टि से अपितु गद्य साहित्य के क्षेत्र में भी एक सशक्त हस्ताक्षर हैं।

और अन्त में मेहता जी की वे दो पंक्तियाँ जो मेरे अपने जीवन की अनुपम निधि है और जिनकी प्रेरणा से मैं अपने सृजन-पथ पर निरन्तर अग्रसर हूँ -

'ओ मेरे दाता!
दी है फकीरी तो देना संकल्प भी!!

बी- १७७, नित्यानन्द नगर
क्वीन्स रोड़, जयपुर- ३०२०२१



हम लोगों ने कई व्यर्थ की बातों और आचरण को भी नैतिकता के दायरे में एक मनोग्रंथि का रूप दिया दे दिया है फलत: हमारा आचरण एक हिपोक्रेट सा हो गया है। पश्चिम और भारत की तुलना वे अन्य संदर्भों में भी करते हैं और पाते हैं कि " वस्तुत: हमारे पास वह आधारभूत सौन्दर्य दृष्टि ही नहीं है, जो पश्चिम के पास है। ठीक है पश्चिम के पास अपनी कमियाँ, खामियाँ हैं परन्तु उनके पास जो अच्छा है, कभी उसे हमने सात्त्विक रूप में ग्रहण किया? हमने उनके रूग्ण व्यक्तित्व और पद्धति की वे बातें ग्रहण की जो न तो हमारे साँचे में तदाकृत हो सकीं और नही वे हम पर जेब देती हैं। पश्चिम का अर्थ केवल जींस, शराब या चारित्रिक उच्छृंखलता ही नहीं है बल्कि राय रखने की एक गहरी समझ, सूझ बूझ भी है।"

एक सफल यात्रावृंतांत आत्म केन्द्रित नहीं होता न ही वह बाहर के दृश्य का स्थूल विवरण होता है। बाहर और भीतर के बीच एक संतुलन ही उसकी सफलता का आधार होता है। देश और समाज की भीतरी पहचान ही उसे सार्थक बनाती है। देश में प्रकृति, और संस्कृति ही नहीं, इतिहास, परम्परा और अतीत भी चित्रित होते हैं। इस दृष्टि से 'कितना अकेला आकाश' एक उल्लेखनीय कृति कही जा सकती है। ऊपरी तौर पर पानी को अपेय मानने वाला यह सामिश समाज एक चकाचौंध उत्पन्न करता है पर लेखन ने वहाँ के जीवन को जब निकट से देखा तो वह अभिभूत हुए बिना न रह सका। इस पुस्तक के पृ० ४३ से ६२ तक के चित्रण को विशिष्टतम कहा जा सकता है। स्त्रूगा से पश्चिम, झील के किनारे-किनारे करीब साठ किलोमीटर दूर एक मठ- नौम मठ है। अल्वानिया की सीमा से सटे इस मठ तक बाल्कन की पहाड़ियों से गुजरते हुए लेखक ने जो चरम अनुभव प्राप्त किया है, प्रकृति के उस अभिभूत कारी सौन्दर्य का सूक्ष्म रेखांकन तो यहाँ किया ही गया है साहित्य, संगीत और नृत्य की विशिष्ट सांस्कृतिक त्रिवेणी का साक्षात्कार भी लेखक ने कराया है। वास्तव में इन्हीं चित्रणों में नरेश मेहता अपनी प्रकृति शैली में दिखलाई देते हैं। यहाँ उनका उपन्यासकार मन अपने सम्पूर्ण काव्य-संस्कार के साथ रमता दिखलाई देता है। यासना नामक युवती को साक्षात्कार देते हुए प्रेम की भारतीय विशेषता को उन्होंने स्पष्ट किया तो लगा कि पाश्चिम के लिए यह नयी दृष्टि है। इस प्रभाव प्रक्रिया से लेखक भी अछूता नहीं रहता। इसी लिए 'यासना ने जिस शालीनता से बिदा ली, उसने उसे देह से अधिक व्यक्तित्व से सुन्दर बना दिया। मुझे लगा, मैं एक प्यारी सी कोयल के मिठास से विदा ले रहा हूँ। लेखक इस परिवेश से जो प्रभाव ग्रहण करता है, वह भी नरेश मेहता के जीवन दर्शन का ही सार लगता है—"प्रकृति कितने निस्पृह और असंग भाव से अकलंक सुन्दर होती है। उसे अपने सौन्दर्य के लिए किसी की प्रशसां या उपस्थिति की कोई अपेक्षा नहीं होती इस लिए वह शाश्वत है।

'कितना अकेला आकाश' काव्यात्मक अभिव्यंजनाओं वाला शीर्षक है। यह अकेलापन मुख्यत: मन के आकाश का ही है पर उसकी प्रस्तुति प्रकृति सापेक्ष व्यापकत

श्री नरेश मेहता ने अपने नाटक 'खण्डित यात्राएं' के माध्यम से नई पीढ़ी के संघर्ष एवं मूल्यों के द्वन्द्व को उजागर करने में सफलता हासिल की है। इस नाटक का नायक महेन अपने पिता की सामन्तवादी संस्कृति के प्रति अपने को नहीं ढाल पाता। वह उनकी इच्छा के विरूद्ध अपनी मनचाही आधुनिका बीना से विवाह करता है जो आधुनिक युवा पीढ़ी की विद्रोही प्रवृत्ति का प्रतीक है। किन्तु क्या उसका वैवाहिक जीवन सफल हो पाता है? नाटककार का उत्तर है- नहीं। विवाहोपरान्त महेन और बीना के दाम्पत्य-सम्बन्धों में जो तनाव आ जाता है, उसकी अन्तिम परिणति दोनों के अलगाव में होती है। इस प्रेमी युगल की जीवन-त्रासदी को नाटककार ने मानो प्रेम-विवाहों की असफलता के रूप में व्यंजित किया है।

महेन और बीना के ठीक विपरीत नन्दिता और शशांक हैं जो एक दूसरे से प्रेम करते हैं ओर दाम्पत्य सम्बन्धों में बँधना चाहकर भी पाणिग्रहण नहीं कर पाते। इसके लिए भी नन्दिता को ही उत्तरदायी माना जा सकता है क्योंकि वह आधुनिक युवा पीढ़ी के समान प्रेम तो करती है परन्तु परम्परागत सामन्तवादी मूल्यों से जुड़ी होने के कारण शशांक से विवाह नहीं कर पाती। इस प्रकार उन दोनों की जीवन-यात्राएं भी खण्डित ही रह जाती हैं। श्री नरेश मेहता ने इस नाटक के माध्यम से मूल्यों के संक्रांतिकाल में स्त्री-पुरूष सम्बन्धों का विवेचन एक भिन्न दृष्टि से किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि साहित्यकार श्री नरेश मेहता का साहित्य कवि के रूप में ही नहीं अपितु अपने उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, विचार आदि के सृजन द्वारा कथाकार के रूप में भी हिन्दी-साहित्यकारों में शीर्ष स्थान पर है। वे मानव-मन एवं जीवन के कुशल चितेरे थे और आज भी न केवल काव्य की दृष्टि से अपितु गद्य साहित्य के क्षेत्र में भी एक सशक्त हस्ताक्षर हैं।

और अन्त में मेहता जी की वे दो पंक्तियाँ जो मेरे अपने जीवन की अनुपम निधि है और जिनकी प्रेरणा से मैं अपने सृजन-पथ पर निरन्तर अग्रसर हूँ -

'ओ मेरे दाता!
दी है फकीरी तो देना संकल्प भी!!

बी- १७७, नित्यानन्द नगर
क्वीन्स रोड़, जयपुर- ३०२०२१



❒ पुस्तक समीक्षा

मन का आकाश उड़ा जा रहा

● डॉ० राजेन्द्र गौतम

वर्तमान हिन्दी साहित्य के केन्द्र में कविता और कथा-साहित्य ही प्रमुखत: रहे हैं। यहाँ तक कि नाटक की चर्चा भी प्रस्तुतियों की समीक्षा तक सिमटी रही है, जबकि बीसवीं सदी के आरंभ से ही जीवनी, आत्मकथा, डायरी और यात्रावृत्तांत का भी समानांतर लेखन होता रहा है। गत एक दशक से अनेक कारणों से आत्मकथा-लेखन का चलन बढ़ा है। हिन्दी में यात्रा-वृत्तातों की एक लम्बी परम्परा अज्ञेय (एक बूँद सहसा उद्‌ली), मोहन राकेश, (आखिरी चट्टान तक) , निर्मल वर्मा (चीड़ो पर चाँदनी) और कन्हैया लाल नंदन (धरती लाल: गुलाबी चेहरे) से होती हुई वर्तमान तक पहुँची है परन्तु इस परम्परा की जाँच परख उपाधि-सापेक्ष शोघ प्रबन्धों तक सीमित रही है जबकि आवश्यकता उसके अधिक सहृदय एवं विशद मूल्यांकन की है। यात्रा- वृत्तांत की अद्यतन कड़ी के रूप में श्री नरेश मेहता की कृति 'कितना अकेला आकाश' कई दृष्टियों से उल्लेखनीय कही जा सकती है। नयी कविता के विशिष्ट कवि और एक सफल उपन्यासकार के रूप में उनकी ख्याति रही है। एक सांस्कृतिक दृष्टि और बानस्पतिक चेतना के अतिरिक्त उनकी भाषा की मौलिकता (विशेषकर विशिष्ट प्रत्ययों वाले तद्‌भव शब्दों का निर्माण) भी अलग से पहचानी जाती है। 'कितना अकेला आकाश' में उनके काव्यात्मक एवं औपन्यासिक वैशिष्ट्य के साथ उनकी भाषिक चेतना भी समन्वित है।

'स्त्रूगा' यूगोस्लाविया का एक छोटा सा शहर है। वहाँ आयोजित काव्य-समारोह में अगस्त १९८९ में भारत की ओर से एक मात्र प्रतिनिधि के रूप में नरेश महेता को भेजा गया था। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने इसी यात्रा के दौरान देखे, वहाँ के जीवन, वहाँ के स्त्री-पुरूषों की गतिविधियों, भावमुद्राओं, मानसिकताओं और हालातों की भी मन के कैमरे में छवि उतारी है।'' यह पुस्तक डायरी और यात्रा वृत्तांत का मिला जुला रूप प्रस्तुत करती है। लगता है, यदि नरेश मेहता जी अपने जीवन काल में इस पुस्तक को छपवाते तो इसके रूप और कलेवर में परिवर्तन नजर आता। शुरु के पृष्ठों के भागते ब्यौरों में कहीं नरेश मेहता का-सा चित्रण कौशल नजर नहीं आता। नामों की भीड़ में सम्बन्धों के संकेत गायब रहने से भी पाठक को थोड़ी असुविधा होती है। यह जरूर है कि ज्यों-ज्यों यह 'रचना-यात्रा' आगे बढ़ती है, इसमें वह गहराई आती जाती है, जिसके आधार पर कहा जा सकता है—''इस यात्रा में सिर्फ व्यक्तियों एवं सुरम्य स्थलों के ही चित्र नहीं हैं, बल्कि

मनुष्य से मुनष्य के और प्रकृति के रिश्तों की एक गहनता की अन्तर्व्याख्या भी हैं इसमें नयेपन को देखने की आँख के साथ हमें एक संतुलित समरसता के दर्शन होते हैं।'' परन्तु यह भी निश्चित है कि यदि यह कृति मेहता जी के जीवनकाल में प्रकाशित होती तो वे ऐसे भाषा-स्खलनों को अवश्य सम्पादित करते ''निश्चिय ही ओखरी झील का महत्व इस क्षेत्र के लिए बहुत ही महत्व का होगा।'' सोवियत रूस के विखंडन से पूर्व यूगोस्लाविया का जहाँ एक साम्यवादी परिवेश कवि के सामने एकदम नयी दुनिया को खोलता है, वहीं पूर्वी यूरोप का यह देश भारत और यूरोप की जीवन-पद्धतियों का सशक्त कंट्रास्ट भी प्रस्तुत करता है। आरंभ में एक खिंचाव एक सिमटने की प्रवृति दिखलाई देती हैं परन्तु अपने एक सप्ताह से भी अधिक के इस प्रवास में इस तुलना को वे और बारीकी से जाँचते हैं और भारत की सांस्कृतिक श्रेष्ठता के प्रति आश्वस्त रहते हुए भी यूरोपीय जीवन के धनात्मक पक्षों को वे बेहिचक रेखांकित करते हैं। सबसे पहले तो मेहता जी का अनुभव हमारे देश के बुद्धिजीवियों के इस भ्रम को तोड़ता है कि अंग्रेजी ज्ञान के सहारे हम पूरे विश्व से जुड़ जाते हैं। लेखक की उदासी, असहायता, अकेलेपन और असुविधा का इस प्रवास में सबसे बड़ा कारण भाषा रही है। हिन्दी की सीमाएँ तो स्वत: स्पष्ट हैं, अंग्रेजी भी न वहाँ के स्थानीय निवासी बोल रहे थे, न अभ्यागत परन्तु आगत कवियों और यूगोस्लाविया के नागरिकों के व्यवहार में अपनी भाषा के प्रति जो प्रेम था वह क्या अंग्रेजी के गुलाम भारतीयों में कमी ला सकेगा। लेखक ने इस पुस्तक में एक दूसरे भ्रमभंग को भी रेखांकित किया है। प्रयोगवाद और नयी कविता के बाद हमने समझ लिया था कि हमारा साहित्य अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है और पूरी दुनिया में हमारी पहचान बन रही है पर यह सोचना कितना भ्रांति पूर्ण है, यह लेखक के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है— ''कई कवियों ने, विशेष कर साम्यवादी देशों के कवियों ने तो खुल कर कहा कि आप की भाषा में आधुनिकता के नाम पर यह पश्चिम की जूठन क्यों लिखी जा रही है? और इससे क्या होगा? आप अपनी परम्परा को क्यों नहीं आधुनिक परिपार्श्व देते? क्यों आधुनिकता का अर्थ आप केवल पश्चिम को ही स्वीकार करते हैं। क्या आपकी आधुनिकता का कोई भिन्न स्वरूप या सत्ता नहीं हो सकती? परोक्षत: इस समस्या की जड़ में भाषा की समस्या है, साथ ही लोक चेतना एवं छंद के देशज रूपों से कटना भी भारतीय साहित्य की पहचान को धुंधला करता है।

यूरोप में जो स्वच्छता और व्यवस्था लेखक को दिखलाई दी है, उसके पीछे वे कानून के पालन को मानते हैं। भारत की दुर्व्यवस्था इसी लिए है कि यहाँ आम या विशिष्ट नागरिक के लिए कानून के प्रति कोई श्रद्धा, भय या प्रेम नहीं है। जहाँ तक जीवन पद्धति का सवाल यहाँ भी भारत और यूरोप में बड़ा अंतर है। हमारी दृष्टि में यूरोप उच्छृंखल है पर अपने प्राथमिक अनुभव के आधार पर नरेश मेहता अनुभव कर पाये हैं कि यह खुलापन मन की सहजता को व्यक्त करता है। इस स्थिति का खुलासा करते हुए वे लिखते हैं— ''पश्चिम की यह विशेषता हम भारतीयों को जरूर चौंकाती है कि इनका सारा व्यवहार इतना निर्द्वन्द्व और खुला होता है कि आप को उलझन होने लगती है। असल में

हम लोगों ने कई व्यर्थ की बातों और आचरण को भी नैतिकता के दायरे में एक मनोग्रंथि का रूप दिया दे दिया है फलतः हमारा आचरण एक हिपोक्रेट सा हो गया है। पश्चिम और भारत की तुलना वे अन्य संदर्भो में भी करते हैं और पाते हैं कि " वस्तुतः हमारे पास वह आधारभूत सौन्दर्य दृष्टि ही नहीं है, जो पश्चिम के पास है। ठीक है पश्चिम के पास अपनी कमियाँ, खामियाँ हैं परन्तु उनके पास जो अच्छा है, कभी उसे हमने सात्त्विक रूप में ग्रहण किया? हमने उनके रूग्ण व्यक्तित्व और पद्धति की वे बातें ग्रहण की जो न तो हमारे साँचे में तदाकृत हो सकीं और नही वे हम पर जेब देती हैं। पश्चिम का अर्थ केवल जींस, शराब या चारित्रिक उच्छृंखलता ही नहीं है बल्कि राय रखने की एक गहरी समझ, सूझ बूझ भी है।"

एक सफल यात्रावृंतांत आत्म केन्द्रित नहीं होता न ही वह बाहर के दृश्य का स्थूल विवरण होता है। बाहर और भीतर के बीच एक संतुलन ही उसकी सफलता का आधार होता है। देश और समाज की भीतरी पहचान ही उसे सार्थक बनाती है। देश में प्रकृति, और संस्कृति ही नहीं, इतिहास, परम्परा और अतीत भी चित्रित होते हैं। इस दृष्टि से 'कितना अकेला आकाश' एक उल्लेखनीय कृति कही जा सकती है। ऊपरी तौर पर पानी को अपेय मानने वाला यह सामिश समाज एक चकाचौंध उत्पन्न करता है पर लेखन ने वहाँ के जीवन को जब निकट से देखा तो वह अभिभूत हुए बिना न रह सका। इस पुस्तक के पृ० ४३ से ६२ तक के चित्रण को विशिष्टतम कहा जा सकता है। स्त्रूगा से पश्चिम, झील के किनारे-किनारे करीब साठ किलोमीटर दूर एक मठ- नौम मठ है। अल्वानिया की सीमा से सटे इस मठ तक बाल्कन की पहाड़ियों से गुजरते हुए लेखक ने जो चरम अनुभव प्राप्त किया है, प्रकृति के उस अभिभूत कारी सौन्दर्य का सूक्ष्म रेखांकन तो यहाँ किया ही गया है साहित्य, संगीत और नृत्य की विशिष्ट सांस्कृतिक त्रिवेणी का साक्षात्कार भी लेखक ने कराया है। वास्तव में इन्हीं चित्रणों में नरेश मेहता अपनी प्रकृति शैली में दिखलाई देते हैं। यहाँ उनका उपन्यासकार मन अपने सम्पूर्ण काव्य-संस्कार के साथ रमता दिखलाई देता है। यासना नामक युवती को साक्षात्कार देते हुए प्रेम की भारतीय विशेषता को उन्होंने स्पष्ट किया तो लगा कि पाश्चिम के लिए यह नयी दृष्टि है। इस प्रभाव प्रक्रिया से लेखक भी अछूता नहीं रहता। इसी लिए 'यासना ने जिस शालीनता से बिदा ली, उसने उसे देह से अधिक व्यक्तित्व से सुन्दर बना दिया। मुझे लगा, मैं एक प्यारी सी कोयल के मिठास से विदा ले रहा हूँ। लेखक इस परिवेश से जो प्रभाव ग्रहण करता है, वह भी नरेश मेहता के जीवन दर्शन का ही सार लगता है—"प्रकृति कितने निस्पृह और असंग भाव से अकलंक सुन्दर होती है। उसे अपने सौन्दर्य के लिए किसी की प्रशसां या उपस्थिति की कोई अपेक्षा नहीं होती इस लिए वह शाश्वत है।

'कितना अकेला आकाश' काव्यात्मक अभिव्यंजनाओं वाला शीर्षक है। यह अकेलापन मुख्यतः मन के आकाश का ही है पर उसकी प्रस्तुति प्रकृति सापेक्ष व्यापकत

आकाश के समानांतर हुई है। इस बाह्य अकाश में दो नक्षत्र सूनेपन को भरते नजर आते है। लेखक के मन के आकाश का रिक्त भी इन्हीं की स्मृतियों से भरा है। लेखक की इस समूची यात्रा में दो स्त्री-पात्रों की उपस्थिति उल्लेखनीय है। बुदमिका ने उसकी भाषा-समस्या का समाधान कुछ हद तक प्रस्तुत किया था। अपने सीमित अंग्रेजी ज्ञान के माध्यम से वह लेखक को असम्प्रेषणीयता के बीहड़ जंगल में खोने से बचा सकी थी। वह स्त्रूगा प्रवास में ज्यादातर समय लेखक की सहायता के लिए प्रस्तुत रही है। बुदमिका जो लेखक के लिए करती रही उसमें उसकी उदार परिचर्या छवि उभरती है। लेखक ने जाना कि वह बहुत साधन सम्पन्न या सुखी नहीं है। उसकी कहानी कुल मिला कर एक त्रासदी ही है। पर यह संघर्षशील नारी आतिथेय में कितनी उदार है, उसका पता देर रात तक लेखक की सहायता के लिए उपस्थित रहने से आता है। यह टिप्पणी बुदमिका की छवि निश्चित रूप से भास्वर बना देती है—"मेरा ख्याल था कि वह भी यहाँ किसी कमरे में ठहरी होगी। पर नहीं वह इतनी रात में 'गुडनाइट' कह कर सुनसान सड़क पर अकेली जाती दिखी, तो मुझें थोड़ी असुविधा हुई। मैं उससे यह भी नहीं पूछ सका कि वह इतनी रात में क्या अकेली ही जाएगी? और कितनी दूर? सड़क की बत्तियों में उसकी अपनी ही छाया पैरों से बँधी आगे-पीछे होती हुई उसे कहीं ले जा रही थी।" बुदमिका कई अर्थों में अत्यंत साधारण सी लगने वाली नारी कैसे सहज बन कर बिना किसी अपेक्षा के निकट आती है, कुछ चिन्ता जैसी भी करती है। थोड़ा बहुत अपने को कह कर निस्प्रयास अपने को सहेज कर लौटा कर भी ले जाती है। लेखक को इस पूरी यात्रा का जब भी स्मरण होता है तब मध्य यूरोप की यह ग्रामीण सी लगने वाली स्त्री कैसे आपकी ओर देखती मुस्कराती है, जैसे कालवृक्ष मे खिला कोई सूर्य मुखी का बड़ा-सा फूल हो।

लेखक के सूने आकाश की दूसरी नक्षत्र है—'एनी स्त्रूगा से ११० किलोमीटर प्रिलेय में भी कुछ कवियों का काव्यपाठ था। बेल्जियम की पेरिस में रहने वाली कवयित्री भी इस में भाग ले रही थी। वह 'बाहर से आयी सभी महिलाओं लेखिकाओं में निश्चित ही अत्यंत सौम्य और संभ्रांत थी। बल्कि कहा जा सकता है कि पुरूषों में भी विरले ही होंगे जिनका व्यक्तित्व इतना सभ्रांत हों । इस व्यक्तित्व का केवल १८-२० घंटो के साथ का लेखक पर जो अमिट प्रभाव पड़ा वह इन पंक्तियों से स्पष्ट है— "वैसे पूरी औपचारिकता के साथ तो हम लोग एक दूसरे से विदा नहीं हुए पर स्त्रूगा जाने वाली कार में बैंठी हुई स्त्री जैसे अपने व्यक्तित्व के सारे डैने और पंजे सिकोड़े बैठी है बल्कि किसी सीमा तक आँखें चुराते भाव से भी, लेकिन क्यों? मुझे ऐसा क्यों लग रहा था कि जैसे हमारे दोनों के पास बहुत कुछ कहना सुनना ही शेष हीं रह गया। लेकिन क्या सही? अथवा यह मेरा भ्रम था। यदि इन दिनों में एनी को न जाना होता तो क्या हानि हो जाती या जाना तो क्या हुआ? लेकिन क्या जीवन हिसाब का नाम है कि कितनी रोकड़ मिली और कितनी गँवायी।"

'कितना अकेला आकाश' एक सांस्कृतिक संयोजन की यात्रा का वर्णन हैं ट्रिम के किनारे के नृत्य समारोह का हृदयग्राही चित्रण, प्रिलेय के स्मारक की प्रस्तुति और भूषा, भाषा, भोजन, संवाद आधार आदि का जितना डूब कर चित्रण लेखक ने किया है, उससे यह कृति लगता है सांस्कृतिक संयोजन की एक कड़ी हैं। इस यात्रा वृतांत के रूप में नरेश मेहता जैसे प्रौढ़ लेखक जीवन के अंतिम वर्षों का एक उपहार हिन्दी साहित्य को प्राप्त हुआ है।



बी-२२६, राजनगर पालम,
नई दिल्ली-२५०८६७९

समीक्षित पुस्तक:-कितना अकेला आकाश, लेखक- नरेश मेहता
प्रकाशक- भारतीय ज्ञान पीठ, नयी दिल्ली, मूल्य : ५५६/-

हुआ जिनसे शहर का नाम रौशन

● हरिमोहन मालवीय

फ़ज़्ले हसनैन उर्दू के लेखक हैं अंग्रेजी पत्रकारिता से भी जुड़े रहे। हिन्दी पत्रकारिता में भी अपनी पहचान बनाई है। उन्होंने इलाहाबाद के समकालीन रचनाकारों पर एक धारावाहिक लेखमाला "दैनिक जागरण" के माध्यम से प्रकाशित की थी। उस लेखमाला में जाने-पहचाने उर्दू-हिन्दी के लेखकों का जो परिचय प्रकाशित किया उसने ध्यान खींचा। हम खुश हुए कि एक पत्रकार ऐसा भी है जो समकालीनों की पहचान बनाने के लिए सजग है। अब और भी खुशी हो रही हैं कि उनकी लेखमाला के महत्त्वपूर्ण अंश 'हुआ जिनसे शहर का नाम रौशन' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हो गये हैं। कुछ लेखक ऐसे होते हैं जिनकी रचनाएं पढ़े बिना बैचेनी होती है। कुछ किताबें भी ऐसी होती हैं जो बरबस बिना पूरी पढ़े हुए चैन नहीं पड़ता। फ़ज़्ले हसनैन साहब की ऐसी ही है यह किताब।

इस लेखमाला की अधिकांश रचनाओं को मैनें पढ़ा था और समय-समय पर उसकी वाह वाही हसनैन साहब से कर चुका था लेकिन जब किताब की शक्ल में वह लेखमाला आई और उन्होंने बड़े स्नेह से पुस्तक को मुझे भेंट किया मैं बाग-बाग हो गया। यह पुस्तक क्यों महत्त्वपूर्ण है इसपर डॉ० सत्यप्रकाश की संक्षिप्त टिप्पणी उन खूबियों को उजागर करती है जो खूबियाँ लिए हुए लेखक ने एक अच्छी पुस्तक प्रस्तुत की है। यह भी महत्वपूर्ण है कि पहली बार फ़ज़्ले हसनैन साहब की अदबी दुनिया से रूबरू होने का मौका मिला है। एक सफल और सिद्धहस्त लेखक के रूप में ख्यात होने के बावजूद समकालीन रचनाकारों के प्रति पैनी और व्यापक दृष्टि रखते हुए उन्होंने जो लेखन कार्य किया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हम समकालीनों को पहचाने और उनकी उपलब्धियों पर गर्व करें आज यह बड़ी बात है।

इस संग्रह में २० रचनाकारों का सचित्र परिचय है। लेखक ने हिन्दी-उर्दू के बीस रचनाकारों से साक्षात्कार लेकर पुस्तक को और भी प्रामाणिकता प्रदान की है। हिन्दी के वरिष्ठ और लब्ध प्रतिष्ठ रचनाकार लक्ष्मीकान्त वर्मा, डॉ० जगदीश गुप्त और विनोद रस्तोगी का निधन हो गया है। इनके परिचय वृत्त आज एक प्रामाणिक दस्तावेज बन गये है। शम्सुर्रहमान फ़ारूकी साहब की चर्चा जिस रूप में हिन्दी -उर्दू जगत में है उस दृष्टि से जिज्ञासुओं के लिए उनका प्रामाणिक परिचय लेखक ने प्रस्तुत करके उपयोगी कार्य किया है। उर्दू के रचनाकार, सुहैल अहमद जैदी और जियाउल इस्लाम के संबंध में भी

जानकारी पेश करके फ़ज़्ले हसनैन ने हिन्दी जगत को दोनों महत्वपूर्ण रचनाकारों के कृतित्व से परिचित कराया है।

पुस्तक में शकुन्तला सिरोठिया , डॉ० रघुवंश, अमरकान्त, शांति मेहरोत्रा, केशवचन्द्र वर्मा, मार्कण्डेय, तिलकराज गोस्वामी, शेखर जोशी, ज्ञान प्रकाश, नरेश मिश्र, अजित पुष्कल, शिवकुटी लाल वर्मा, रवीन्द्र कालिया और ममता कालिया के जीवन, कृतित्व और उनकी साहित्यिक उपलब्धियों का प्रामाणिक लेखा- जोखा प्रस्तुत किया गया है। प्रयाग के साहित्येतिहास की महत्त्वपूर्ण कड़ी 'हुआ जिनसे शहर का नाम रौशन' से जुड़ गयी है, जो ऐसे कृतित्व के अभाव में विस्मरित हो जाती।



९८२/६५३ महामना मालवीय नगर
इलाहाबाद

पुस्तक : हुआ जिनसे शहर का नाम रौशन, लेखक फ़ज़्ले हसनैन, प्रकाशक: अंकुर प्रकाशन, १/१ बाई का बाग, इलाहाबाद, मूल्य : १२५/- (एक सौ पचीस रुपया)।



: प्रकाशक :

सचिव, हिन्दुस्तानी एकेडेमी

12 डी, कमला नेहरू मार्ग, इलाहाबाद- 211001

: मुद्रक :

कावेरी इन्टर प्राइजेज

92, दि[illegible]ऽशा पार्[illegible] इलाहबाद- 211002 दूरभाष: 0532- 3159755